

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

श्री उमास्वामिविरचितम्
तत्त्वार्थसूत्रम्

तस्योपरि पूज्य १०५ आर्यिका विज्ञानमती संकलित
भाषा प्रश्नोत्तर संग्रह

तत्त्वार्थमञ्जूषा

ॐ मंगलाचरण ॐ

‘महावीर’ को नमन करूँ, ‘ज्ञान’ ‘विवेक’ उर लाय ।
शारद ‘विशाल’ वन्दन करौं ‘विद्या’ आशिष पाय ॥

गृद्धपिच्छ आचार्यकृत, गहन ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थ’ ।
‘मञ्जूषा’ संग्रह करूँ, होय सरल गूढार्थ ॥

ॐ मंगलाचरण ॐ

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : पंचम अध्याय

* विषय-परिचय *

कुल सूत्र : ४२ कुल प्रश्न : ४२७

- ◆ १ से ५वें सूत्र तक जीवादि पाँच द्रव्यों के नाम एवं विशेषता बताई गई है।
- ◆ ६ठे सूत्र में द्रव्यों की संख्या का कथन है।
- ◆ ७वें सूत्र में इन द्रव्यों का निष्क्रियत्व कहा है।
- ◆ ८वें से ११वें सूत्र तक द्रव्यों के प्रदेश बताये गये हैं।
- ◆ १२वें से १५वें सूत्र तक द्रव्यों के रहने का स्थान बताया गया है।
- ◆ १६वें सूत्र में जीव के प्रदेशों की विशेषता बताई गई है।
- ◆ १७वें सूत्र से २२वें सूत्र तक द्रव्यों के उपकार बताये गये हैं।
- ◆ २३वें-२४वें सूत्र में पुद्गल का लक्षण एवं पर्याय कही गई हैं।
- ◆ २५वें सूत्र में पुद्गल के भेदप्रभेद कहे गये हैं।
- ◆ २६वें से २८वें सूत्र तक अणु एवं स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण बताया गया है।
- ◆ २९वें एवं ३०वें सूत्र में द्रव्य का लक्षण कहा है।
- ◆ ३१वें सूत्र में नित्यत्व का लक्षण है।
- ◆ ३२वें सूत्र में विरोधी दो धर्मों की सिद्धि कही है।
- ◆ ३३वें से ३७वें सूत्र तक पुद्गलों के परस्पर बंध का कारण कहा है।
- ◆ ३८वें सूत्र में पुनः द्रव्य का लक्षण कहा है।
- ◆ ३९वें-४०वें सूत्र में काल द्रव्य का वर्णन है।
- ◆ ४१वें-४२वें सूत्र में गुण एवं परिणाम का लक्षण कहा है।

द्रव्य :

अजीव तत्त्व के सम्बन्ध में कहते हैं-

अजीवकाया धर्माधर्माकाश - पुद्गलाः ॥१॥

अजीव-काया-धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गलाः ।

(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल (अजीव-काया) अजीव और कायवान हैं।

अर्थ - धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अजीव हैं और कायवान हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चार अध्यायों में जीव तत्त्व का निरूपण करने के अनन्तर अजीव तत्त्व के विभाग (विशेष लक्षण) आदि में पड़े हुए विवाद की निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। (श्लो. ६/१)

इस समय सम्यग्दर्शन के विषय भाव से उपक्षिप्त (वर्णित) जीवादि पदार्थों में अजीव पदार्थ का विचार प्राप्त है, अतः अजीव द्रव्य के भेद और नाम का कथन करने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है क्योंकि आस्रव आदि का वर्णन अजीव पूर्वक ही होता है। (रा.वा. १ उ.)

२. प्रश्न : सूत्र में 'अजीवाः' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : कोई सबको जीवात्मक ही स्वीकार करते हैं, उनके प्रति धर्मादिकों में अजीवपने का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र में 'अजीवाः' पद का ग्रहण किया है। (श्लो. ६/२)

३. प्रश्न : सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण प्रदेशों या अवयवों की बहुतायत को सूचित करने के लिए है। मुख्य रूप से धर्मादि द्रव्यों के न रहने पर भी श्रोतृजन को सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिए द्रव्य परमाणु की अवगाहना मात्र से (एक परमाणु के द्वारा रोके गये आकाशप्रदेश के माप से) बुद्धि के द्वारा 'प्रदिष्यते इति प्रदेशाः' उनमें भेद किये जाते हैं, वे प्रदेश हैं, प्रदेश ही अवयव हैं, वह प्रदेशावयव है। उनके बहुत्व का ज्ञान कराने के लिए काय शब्द है। (रा.वा. ८)

धर्मादिक द्रव्यों के बहुत प्रदेश हैं, इसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'काय' शब्द दिया है। (सर्वा. ५२७)

४. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों में कायत्व क्यों है ?

उत्तर : जैसे - औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय के वश (कारण) से पुद्गलों का संचय करने के कारण काय कहलाता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्यों के भी अनादि पारिणामिक प्रदेशों के संचय होने

से कायत्व है। काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं। (रा.वा. ७) इस कारण जिनेश्वरदेव ने इनको 'काय' कहा है। (बृ.द्र.सं. २४ टी.)

५. प्रश्न : आगे सूत्र असंख्येया ॥८॥ से ही इनके बहुप्रदेशत्व की सिद्धि है
अतः यहाँ 'काय' शब्द व्यर्थ है ?

उत्तर : (१) यह ठीक है। फिर भी इस कथन के होने पर उस सूत्र से प्रदेशों के विषय में यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्यों के प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं और न अनन्त।

(२) काल द्रव्य में प्रदेशों का प्रचय नहीं है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र में 'काय' पद का ग्रहण किया है। (सर्वा. ५२७) (क) काय शब्द के ग्रहण से पाँचों अस्तिकायों में प्रदेशबहुत्व की सिद्धि हो जाने पर भी उत्तर वचन की अवधारणा के लिए यह सूत्र उपयोगी होता है। उनके प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं, न अनन्त है और अवधारणा विधिपूर्वक ही होती है। संख्यात और अनन्त प्रदेशों की जब सत्ता होगी तभी असंख्यात ही प्रदेश है। संख्यात और अनन्त नहीं, यह निर्धारण हो सकता है।

(ख) काल के प्रदेशत्व का निषेध करने के लिए 'काय' शब्द का ग्रहण किया गया है, जैसे- अणु एकप्रदेश स्वरूप है, दो, तीन आदि प्रदेश उसके नहीं हैं इसलिए उसे अप्रदेश कहते हैं, उसी प्रकार कालाणु भी एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी है। (रा.वा. १५-१६)

६. प्रश्न : धर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मास्तिकाय रस-रहित है, वर्ण रहित है, गन्ध रहित है, शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, समस्त लोक में व्याप्त है, अखण्ड प्रदेशी होने से स्पृष्ट है- परस्पर प्रदेश व्यवधान रहित होने से निरन्तर है, विस्तृत है और असंख्यात प्रदेशी है। वह धर्मास्तिकाय अपने अनन्त अगुरुलघु गुणों के द्वारा निरन्तर परिणामन करता रहता है, स्वयं गतिक्रिया से युक्त जीव और पुद्गलों की गतिक्रिया का कारण है और स्वयं अकार्य रूप है। जिस प्रकार लोक में जल मछलियों के गमन करने में अनुग्रह करता है उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्य के गमन करने में अनुग्रह करता है। (पं. का. ८३-८५)

अन्य द्रव्यों में असम्भव गतिरूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्गलों के एक समय में समान रूप से गमन में हेतु रूप विशेष गुण से ही विद्यमान धर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। (प्र.सा.ता. १४३-४४)

गमन में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है- जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुद्गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। (द्र.सं.१७)

७. प्रश्न : अधर्म द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : इसी प्रकार (उपर्युक्त लक्षण वाला ही) अधर्म द्रव्य भी जानना चाहिए लेकिन अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गल द्रव्य की स्थिति करने में अनुग्रह करता है। (प.का. ८६)

ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है। गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है। (द्र.सं. १८)

अपने हेतु से (उपादान कारण से) स्थित रहने वाले जीव तथा पुद्गलों की स्थिति में जो कारण है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे- ग्रीष्म के समय मार्ग में चलने वाले थके पथिकों को ठहरने में शीतल छाया निमित्त है। (यह द्रव्य प्रेरक निमित्त न होकर सहकारी निमित्त है) (आ.सा. ३/२१) अन्य द्रव्यों के असम्भव, गति रूप परिणत सम्पूर्ण जीव-पुद्गलों की एक समय में समान रूप से स्थिति में हेतु रूप से ही विद्यमान अधर्म द्रव्य का निश्चय किया जाता है। (प्र.सा.ता. १३३-३४)

८. प्रश्न : आकाश द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : अन्य द्रव्यों के असम्भव (नहीं पाये जाने वाले) सभी द्रव्यों को साधारण-समान रूप से अवगाह-हेतुत्व रूप विशेषगुण से ही विद्यमान आकाश का निश्चय किया जाता है। (प्र.सा.ता. १४३-४४)

पदार्थों के अवगाह का जो कारण है, वह आकाश है। आकाश स्थित है, नित्य है, चौकोर है (चारों ओर से समान घनाकार रूप है) तथा अनन्तानन्तप्रदेशी है। (आ.सा. ३/२४)

जीवादि द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र भगवान ने आकाश द्रव्य कहा है। (द्र.सं. १९) जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के साथ पृथक-पृथक रूप से रहते हैं, प्रकाशित होते हैं वा आत्मीय पर्यायों की मर्यादा से जो स्वयं प्रकाशित होता है वह आकाश है।

अथवा - अवकाश देता है वह आकाश है। (रा.वा. २१-२२) जो चेतन रहित, अमूर्त, सर्व द्रव्यों को अवगाह देने वाला सर्व व्यापी है- उसको जिनेन्द्र भगवान ने आकाश द्रव्य कहा है। (न.च.वृ. ९७)

९. प्रश्न : पुद्गल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे-भा-प्रभा को करने वाला भास्कर है। इस प्रकार भासन रूप अर्थ को अन्तः प्रविष्ट कर भास्कर संज्ञा सार्थक है। उसी प्रकार जो भेद से, संघात से और भेद-संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल कहलाते हैं। अथवा - पूरण-गलन रूप सार्थक नाम वाला पुद्गल है। (रा.वा. २४)

पुरुष के द्वारा निगला जाता है इसलिए पुद्गल कहलाता है। पुमान् पुरुष को जीव कहते हैं। पुरुष (जीव) के द्वारा शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय रूप उपकरण आदि के रूप में निगला जाता है वा ग्रहण किया जाता है अतः उसे पुद्गल कहते हैं। (रा.वा. २६)

१०. प्रश्न : परमाणु में पूरण-गलन स्वभाव नहीं है, इसलिए परमाणु को पुद्गल नहीं कह सकते हैं ?

उत्तर : (१) ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि गुण की अपेक्षा परमाणु में पूरण-गलन की सिद्धि है। परमाणु भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त है। एक गुण रूपादि से परिणत परमाणु भी दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण रूप से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूप से हानि को भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार गुण की अपेक्षा परमाणु में भी पूरण-गलन क्रिया की उत्पत्ति होने से उसे पुद्गल मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा-

(२) भूत में पूरण-गलन स्वभाव था, भविष्यत् में होगा इसलिए शक्ति की अपेक्षा परमाणु में पूरण-गलन की उपचार कल्पना है अतः शक्ति की अपेक्षा परमाणु में पुद्गल का उपचार किया जाता है।

(३) परमाणु भी स्कन्ध दशा में जीवों के द्वारा निगले जाते हैं इसलिए भी परमाणु पुद्गल है।
(रा.वा. २५-२६)

११. प्रश्न : परमाणु स्कन्ध की तरह स्पर्शादि के द्वारा पूरण-गलन करते हैं इसलिए पुद्गल है तो द्व्यणुक आदि में पुद्गलपना कैसे घटित होता है ?

उत्तर : द्व्यणुक आदि प्रदेशों के पूरण-गलन रूप के द्वारा अन्य परमाणुओं को प्राप्त करते हैं, प्राप्त करेंगे और पहले प्राप्त कर चुके हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार द्व्यणुक आदि में भी पुद्गलपना घटित होता है। (गो.जी.जी. ५६४)

१२. प्रश्न : संसार में पुद्गल कौन-कौन हैं ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द रूप इन्द्रियविषय, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप द्रव्येन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण रूप शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत अनन्त-अनन्ताणुक वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्विअणुकस्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ तथा परमाणु और अन्य जो कुछ मूर्त हो वह सब पुद्गल के भेद जानना चाहिए। (पं.का. ८२ ता.)

१३. प्रश्न : इन द्रव्यों की धर्म-अधर्म आदि संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : इन द्रव्यों की धर्म-अधर्म आदि संज्ञा सामायिकी जाननी चाहिए। यथाकाल अभिव्यक्त ज्ञान, दर्शन आदि अतिशय के प्रकाशक अर्हत् के द्वारा अवबोधित किया गया है अर्थ का सार जिसमें ऐसे अनादिनिधन अर्हत् प्रवचन में धर्म-अधर्म आदि संज्ञायें रूढ़ जाननी चाहिए। अथवा - ये संज्ञाएँ क्रिया निमित्तक भी हैं। जैसे - स्वयं क्रियापरिणामियों के साचिव्य सहायकपने को धारण करने वाला होने से धर्म है। (रा.वा. १७-१९)

१४. प्रश्न : सूत्र में धर्म द्रव्य का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : प्रशस्त अभिधान होने से धर्म शब्द को आदि में ग्रहण किया है। लोक में यह धर्म शब्द प्रशंसनीय अर्थ में है। अतः धर्म द्रव्य का ग्रहण आदि में किया गया है। (रा.वा. २८)

१५. प्रश्न : सूत्र में धर्म द्रव्य के निकट अधर्म द्रव्य का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : लोक-व्यवस्था का हेतु होने से धर्म के बाद अधर्म द्रव्य का ग्रहण किया है। पंचास्तिकाय और काल जिसमें रहते हैं उसको लोक कहते हैं। अधर्म द्रव्य के द्वारा ही लोक की पुरुषाकार आकृति की व्यवस्था बनती है, विविध-अवस्था, व्यवस्था, विविध सन्निवेश वेत्रासन आदि की आकृति की व्यवस्था होती है। अधोलोक-वेत्रासन, मध्यलोक झल्लरी और ऊर्ध्व-लोक मृदंग के आकार है। इस लोक की व्यवस्था का हेतु अधर्म द्रव्य है। क्योंकि अधर्मास्तिकाय द्रव्य के नहीं होने पर गतिमान द्रव्य के गतिविषयक नियम का अभाव हो जायेगा। यदि अधर्म द्रव्य नहीं माना जाता तो गतिमान जीव और पुद्गल समस्त आकाश (अलोकाकाश) में पहुँच जाते, अतः लोक का कोई आकार ही नहीं बन पाता अतः धर्म द्रव्य के निकट अधर्म द्रव्य को ग्रहण किया है। (रा.वा. २९)

अथवा - धर्मास्तिकाय का प्रतिपक्षी अधर्मद्रव्य है क्योंकि धर्म गमन में सहायक होता है और अधर्म द्रव्य उसमें विपरीत जीव एवं पुद्गल की स्थिति में कारण है अतः धर्म द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से धर्म के बाद अधर्म को ग्रहण किया है। (रा.वा. ३०)

१६. प्रश्न : धर्म-अधर्म के बाद आकाश का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : धर्म और अधर्म के द्वारा लोक और अलोक रूप में आकाश का परिच्छेद (ज्ञान) किया जाता है। जहाँ तक धर्म और अधर्म द्रव्य है वह लोकाकाश और इससे भिन्न अलोकाकाश है अतः धर्म और अधर्म के बाद आकाश को ग्रहण किया है। (रा.वा. ३१)

अथवा - अमूर्तत्व की अपेक्षा साधर्म्य होने से धर्म-अधर्म के समीप आकाश का ग्रहण किया है। जैसे- रूप, रस आदि रहित होने से धर्म-अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं वैसे ही आकाश भी रूपादि रहित होने से अमूर्त है अतः धर्म-अधर्म के समीप आकाश को ग्रहण किया है। (रा.वा. ३२)

१७. प्रश्न : आकाश के समीप 'पुद्गल' का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : आकाश में पुद्गल अवकाश पाते हैं अतः आकाश के समीप पुद्गल का उल्लेख किया है। (रा.वा. ३३)

१८. प्रश्न : धर्मादि द्रव्य का आधार होने से आकाश को सर्वप्रथम ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि लोक की रचना अनादिकाल से है, इसलिए इसमें यह नियम नहीं है कि लोक की रचना में आकाश आधार है और अन्य द्रव्य आधेय हैं किन्तु लोक की रचना का क्रम अनादिसिद्ध है अतः आकाश आधार नहीं है क्योंकि आदिमान कुण्ड और बदरीफल आदि में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है। (रा.वा. ३४)

१९. प्रश्न : यदि ऐसा है तो आर्ष से विरोध आयेगा ?

उत्तर : नहीं आयेगा, क्योंकि यदि आधार-आधेय भाव का सर्वथा निषेध किया जाता है तो आर्ष के साथ विरोध आता है, स्याद्वाद में विरोध नहीं है। आकाश एवं धर्मादि द्रव्यों में कथंचित् आधार-आधेय भाव है एवं कथंचित् नहीं है।

द्रव्यार्थिक नय एवं एवंभूत नय की अपेक्षा इनमें आधार-आधेय भाव नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता एवं पर्यायार्थिक नय की गौणता से कथन किया जाता है तो प्रतिनियत अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय से आकाशादि छहों द्रव्यों में आधार-आधेय भाव का अभाव है। द्रव्यार्थिक नय को गौण करें और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से वर्णन किया जाता है तो छहों द्रव्यों में आदिमत्व की उत्पत्ति होने से आकाश और इन द्रव्यों में आधार-आधेय भाव हो जाता है अतः पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आकाशादिक में आधार-आधेय भाव ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में कहा है, इसलिए आधार-आधेय भाव में कोई विरोध नहीं है।

अथवा - व्यवहार नय की अपेक्षा आकाश को आधार और अन्य द्रव्य को आधेय कहते ही हैं- क्योंकि अनादि पारिणामिक लोक की रचना इसी प्रकार की है तथा सर्व द्रव्य अपने आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। (रा.वा. ३५)

२०. प्रश्न : यदि आकाश एवं धर्मादि में आधार-आधेय भाव माना जायेगा तो आकाश के भी आधार मानना पड़ेगा एवं ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आयेगा ?

उत्तर : व्यवहार में तनुवातवलय का आकाश को आधार मान लेने पर भी आकाश के अन्य आधार की कल्पना करके अनवस्था दूषण नहीं आ सकता- क्योंकि आकाश सर्वगत और अनन्त है। जो सर्वगत और अनन्त है उसका सर्वत्र सान्निध्य होने से “उसका भी अन्य आधार उसका भी अन्य आधार” इस प्रकार के व्यवहार का अभाव होने से अनवस्था दोष नहीं आ सकता है। परिशेष न्याय से असर्वगत, सान्त, मूर्तिमान, सावयव और ऐन्द्रियिक विषय वाले पदार्थों में ही आधार-आधेय कल्पना से अनवस्था दोष आ सकता है- उससे विपरीत लक्षण वाले अनन्त आकाश में अनवस्था दोष नहीं है। यदि सर्वगतादि पदार्थों में भी अनवस्था दोष देखा जाता है तो उदाहरण देकर समझाना चाहिए। परन्तु सर्वगत पदार्थों में आधार-आधेय कल्पना मानने पर भी अनवस्था दोष नहीं आ सकता- इसलिए आकाश को आधार मानने पर अनवस्था दोष की कल्पना छोड़ देनी चाहिए। (रा.वा. ३५)

२१. प्रश्न : अलोकाकाश में जीवादि द्रव्यों के अवकाश का अभाव होने से अलोकाकाश को आकाश नहीं कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अलोकाकाश में अवगाही द्रव्यों का अभाव होने पर भी अवकाश देने का सामर्थ्य पाया जाता है। जैसे- अतिदूर भविष्यत् काल में वर्तमान काल में उसकी प्राप्ति की योग्यता के कारण ही भविष्यत् काल का व्यपदेश होता है। उसी प्रकार अलोकाकाश, अवगाही द्रव्य के अभाव होने पर भी अवगाहन शक्ति के अविरोध (अभाव नहीं) है इसलिए अलोकाकाश भी

अवकाशदान के योग्य होने से आकाश कहा जाता है अथवा क्रियानिमित्तत्व होने पर भी रूढ़ि विशेष बल के लाभ से गो शब्द के समान अवकाशदान के अभाव में भी अलोकाकाश आकाश कहा जाता है। (रा.वा. २३)

२२. प्रश्न : सूत्र में काल द्रव्य का कथन क्यों नहीं किया ?

उत्तर : काल द्रव्य बहुप्रदेशी नहीं होने से सूत्र में उसका कथन नहीं किया है, उसका कथन आगे करेंगे। (रा.वा. ३६)

२३. प्रश्न : इस सूत्र में कौन-सा समास है ?

उत्तर : इस सूत्र में विशेषण-विशेष्य समास है। किन्हीं दो पदार्थों में असम्बन्ध होने पर किसी एक स्थान में उनका सम्बन्ध बतलाने के लिए विशेषण-विशेष्य समास होता है। जिस प्रकार 'नील कमल' इसमें व्यभिचार (असम्बन्ध) पाया जाता है उसी प्रकार 'अजीवकाय' शब्द में भी व्यभिचार पाया जाता है क्योंकि काय जीवद्रव्य में और अजीव काल में भी पाया जाता है। यहाँ पर नील कमल के समान काल द्रव्य अजीव है लेकिन काय नहीं है, जीव द्रव्य काय है लेकिन अजीव नहीं अतः काय अजीव को छोड़कर जीव में और अजीव काय को छोड़कर काल में पाया जाता है इसलिए अजीव और काय में व्यभिचार होने के कारण यहाँ पर विशेषण-विशेष्य समास हो जाता है। (रा.वा. १)

२४. प्रश्न : 'न जीवः अजीवः' अतः अजीव कहने से अभाव मात्र का प्रसंग आता है जैसे- न भावः अभावः ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि अभाव में भी भावान्तर का ज्ञान होता है। जैसे- 'यह घोड़ा नहीं है' ऐसा कहने पर केवल अभाव का ही ज्ञान नहीं होता है किन्तु 'नञ् समास में असदृश' अन्य का अधिकरण होने से अर्थ की गति होती है इसलिए अनश्व कहने से घोड़े के निषेध के साथ ही समान उदर, पूंछ आदि लक्षण वाले घोड़े सरीखे अन्य प्राणी गधा आदि का प्रत्यय (ज्ञान) होता है; उसी प्रकार यहाँ भी जीव नहीं है, ऐसा कहने पर निषेधात्मक जीव के अभाव का ही सिर्फ ज्ञान नहीं होता अपितु जीव से भिन्न अनुपयोग (अचेतन) आत्मक धर्म-अधर्म पुद्गलादि द्रव्य दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होता है अर्थात् जीव नहीं है धर्मादिक अजीव है। (रा.वा. ६)

२५. प्रश्न : "धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" सूत्र में बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'धर्माधर्माकाश पुद्गलाः' यह बहुवचन स्वातन्त्र्य की प्रतिपत्ति के लिए है। इनकी स्वतन्त्रता यह है कि ये स्वयं गति और स्थिति रूप से परिणत जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में स्वयं निमित्त होते हैं- पर प्रत्यय के आधीन इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् जीव और पुद्गल की प्रेरणा से परिणमन नहीं करते हैं। यह भी नहीं कहना चाहिए कि बाह्य द्रव्य-क्षेत्रादि के निमित्त से परिणामी द्रव्य का परिणमन होता है क्योंकि गति आदि में परिणत जीव और पुद्गल गति आदि उपकार में धर्मादि की प्रेरणा नहीं करते। (रा.वा. २७)

द्रव्यों का कथन करते हैं-

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थ - उपर्युक्त धर्मादि द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई पूछता है कि “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य”^१ इस सूत्र में द्रव्य कहे हैं, वे द्रव्य कौन-कौन से हैं ? इस सूत्र के द्वारा उन द्रव्यों का कथन किया गया है। (रा.वा. उ. २)

२. प्रश्न : द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्व (उपादान) और पर प्रत्ययों (कारणों) से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त होते हैं वा पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। (रा.वा.१)

द्रव्य शब्द में ‘द्रु’ धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। इससे द्रव्य शब्द का व्युत्पत्ति रूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। (सर्वा. ५२९)

उत्पाद और विनाश रूप नाना पर्यायों के निरन्तर होने पर भी सान्त्वितिक द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा द्रवण और गमन के कारण द्रव्य कहलाते हैं। (रा.वा. १)

निरन्तर परिवर्तनशील होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जिसकी निरन्तर प्रतीति होती रहती है वह द्रव्य है। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : परप्रत्यय और स्वप्रत्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप बाह्य कारण पर-प्रत्यय कहलाते हैं। तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व-प्रत्यय है। बाह्य कारणों के रहने पर भी यदि द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योग्यता न हो तो वह पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः स्वप्रत्यय ही समर्थ कारण है। (रा.वा. १)

४. प्रश्न : द्रव्य अपनी योग्यता से परिणमन करते हैं अतः बाह्य निमित्त की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : स्व और पर दोनों कारण मिलकर ही पदार्थों के उत्पाद और व्यय में कारण होते हैं, एक के भी अभाव में उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। जैसे पकने योग्य उड़द यदि बोरे में पड़ा हुआ है तो भी पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक (नहीं पकने योग्य) उड़द बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाला जाय तो भी वह नहीं पक सकता। अतः उभय हेतुक उत्पाद-व्यय है। (रा.वा. १)

अथवा - इव अर्थ में निपातित द्रव्य शब्द 'द्रव्यं भवे' इस व्याकरण सूत्र से द्रव्य शब्द को इवार्थ (इव अर्थ में) निपातित जानना चाहिए। जैसे- 'द्रु' के समान होता है वह 'द्रव्य' है। 'द्रु' से दारु शब्द बनता है। बिना गाँठ की लकड़ी को दारु कहते हैं। जैसे बिना गाँठ की सीधी लकड़ी बढ़ई आदि के निमित्त से टेबिल कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी प्रकार स्वयं परिणमन करने में समर्थ, पाषाण खोदने से जैसे पानी निकलता है, वैसे अभिन्न कर्तृकरण द्रव्य भी बाह्य और अन्तरंग कारणों के कारण उपनीत अपनी-अपनी पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, उसी प्रकार दारु के समान पर्याय रूप अनेक प्रकार के आकारों को प्राप्त होता है परन्तु सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता है वह द्रव्य कहलाता है। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य मानने में क्या हानि है ?

उत्तर : यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जैसे-दण्ड के सम्बन्ध से पूर्व देवदत्त अपनी जाति आदि से युक्त प्रसिद्ध है और देवदत्त के सम्बन्ध के पहले दंड अपनी गोलाई-लम्बाई आदि के द्वारा प्रसिद्ध है अतः उन दोनों दण्ड-दण्डी का सम्बन्ध युक्त है। परन्तु दण्ड और दण्डी के समान द्रव्यत्व सम्बन्ध के पहले न तो द्रव्य ही प्रसिद्ध है और न द्रव्यत्व ही उपलब्ध है। यदि द्रव्य के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य प्रसिद्ध है तो द्रव्यत्व के सम्बन्ध की कल्पना निरर्थक हो जाती है। द्रव्यत्व भी द्रव्य के सम्बन्ध के पहले उपलब्ध नहीं है। अतः दोनों जब सम्बन्ध के पहले असत् हैं तो उनके सम्बन्ध की कल्पना ही निरर्थक है।

द्रव्य के साथ सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य और द्रव्यत्व का अस्तित्व भी मान लिया जाय परन्तु जब उन दोनों में पृथक्-पृथक् शक्ति नहीं है तब मिलकर भी स्वप्रत्ययोत्पादक शक्ति नहीं आ सकती। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् दर्शनशक्ति रहित होने से दो जन्मान्धों को एक साथ मिला देने पर रूपावलोकन शक्ति उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व में द्रव्य प्रत्ययाभिधान शक्ति की उत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव होने पर, उनका सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यत्व का व्यवहार नहीं हो सकता। यदि द्रव्यत्व के सम्बन्ध के पूर्व द्रव्य में द्रव्यत्व है तो द्रव्यत्व की कल्पना करना या द्रव्यत्व का सम्बन्ध मानना व्यर्थ ही होगा, उसी प्रकार द्रव्यत्व भी द्रव्य समवाय के पहले द्रव्यत्व ही है, द्रव्य प्रत्यय के अभिधान का निमित्त नहीं है। द्रव्य के साथ द्रव्यत्व के सम्बन्ध की निरर्थक कल्पना न हो इसलिए पृथक् अनुपलम्भ (पृथक्-पृथक् नहीं दिखने वाले) द्रव्य और द्रव्यत्व का सम्बन्ध होने पर भी वैसी सामर्थ्य नहीं है। इसलिए हम मानते हैं कि द्रव्यत्व के योग से द्रव्य नहीं है, अपितु अपने-अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है इसलिए द्रव्य है। (रा.वा. ३)

६. प्रश्न : जो गुणों को प्राप्त हो या गुणों के द्वारा प्राप्त हो उन्हें द्रव्य कहते हैं, द्रव्य का इस प्रकार विग्रह करने पर भी उपर्युक्त दोष आयेगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद के बन जाने से द्रव्य इस संज्ञा की सिद्धि हो जाती है। गुण और द्रव्य ये एक दूसरे को छोड़कर नहीं पाये जाते, इसलिए तो इनमें अभेद है। तथा संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने से इनमें भेद है। (सर्वा. ५२९)

७. प्रश्न : सूत्र में 'द्रव्याणि' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : धर्म, अधर्म आदि द्रव्य बहुत हैं इसलिए इनके समानाधिकार का ज्ञान कराने के लिए 'द्रव्याणि' बहुवचन का प्रयोग किया है। धर्म-अधर्म आदि ही द्रव्य हैं, इनको छोड़कर अन्य कोई द्रव्य नहीं हैं। (रा. वा. १३)

८. प्रश्न : समानाधिकरण के कारण बहुवचन किया है तो पुल्लिंग होना चाहिए क्योंकि पहले सूत्र में 'अजीवकायाः' पुल्लिंग है ?

उत्तर : यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि 'द्रव्य' शब्द नित्य नपुंसक लिङ्ग है इसलिए वह अपने लिंग को नहीं छोड़ता। अतः धर्मादि के साथ 'द्रव्याणि' का समानाधिकरण होने पर भी पुल्लिंग का प्रयोग नहीं किया है। (रा.वा. १४)

और भी द्रव्य बताते हैं-

जीवाश्च ॥३॥

जीवाः च ।

अर्थ - जीव भी द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : निकट होने से धर्म, अधर्म आदि चार द्रव्यों के ही द्रव्यत्व का व्यपदेश होने से इनके सिवाय भी द्रव्य है उसे बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३)

यद्यपि आगे 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रगत द्रव्य के लक्षण से ही धर्मादि में द्रव्यता सिद्ध हो जाती है तथापि यहाँ द्रव्यों की गिनती के नियम के लिए ही इस सूत्र को कहा है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल द्रव्य जीव और काल के साथ मिलकर छह द्रव्य होते हैं, इनसे अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। इस नियम के प्रारम्भ के लिए यह सूत्र कहा है।

अथवा - इस सूत्र से अन्यवादी द्वारा कल्पित दिशा, आकाश, काल, वायु, मन, पृथ्वी आदि द्रव्यों की संख्या है उनकी भी निवृत्ति हो जाती है। (रा.वा. ३)

२. प्रश्न : इस सूत्र से अन्यवादियों द्वारा कल्पित तत्त्व की निवृत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : अन्य मतावलम्बी दिशा, आकाश, काल, पृथ्वी आदि नौ द्रव्य मानते हैं। उनका इन्हीं द्रव्यों में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे-रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है। चक्षु आदि के द्वारा वायु और मन नहीं दिखते इसलिए उनमें रूप नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि उनमें रूप अनुमानसिद्ध है। जैसे- वायु रूप वाली है क्योंकि उसमें घटादि के समान स्पर्श पाया जाता है। जो स्पर्श वाला होता है वह रूप वाला भी अवश्य होता है। (रा. वा. ३)

३. प्रश्न : सूत्र में 'जीवाः' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : जीवों की विविधता का सूचन करने के लिए 'जीवाः' बहुवचन किया है। संसारी और मुक्त जीव विविध प्रकार के हैं। संसारी जीव भी गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म-बादर आदि जीवस्थान की अपेक्षा विविध प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय सिद्ध पर्याय के आश्रय से तथा मुक्ति-प्राप्ति के कारण-भूत शरीर के आकार की अनुविधायी स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, अवगाहन आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं।
(रा.वा. ४)

४. प्रश्न : 'द्रव्याणि जीवाः' सूत्र बनाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से 'च' का प्रयोग नहीं होने से सूत्र लघु बन जाता ?

उत्तर : यद्यपि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक योग करने पर 'च' शब्द नहीं होने के कारण लघु सूत्र तो होता परन्तु इससे जीवों का ही प्रसंग होता और ऐसा होने पर जीव ही द्रव्य कहे जा सकते, धर्मादि नहीं। अतः अनिष्ट का प्रसंग आता है।

(दूसरी बात) 'द्रव्याणि जीवाः' यह सूत्र बनाने में द्रव्यों की सिद्धि के प्रयत्न का अभाव होने से जीवों की द्रव्य संज्ञा होगी, अजीवों की नहीं, अतः 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ऐसे पृथक्-पृथक् सूत्र का ग्रहण करना न्याय ही है और ऐसे दो सूत्र बनाकर उसमें 'च' शब्द का ग्रहण करना अर्थवान होता है।
(रा.वा.५-८)

५. प्रश्न : क्या जीवत्व के सम्बन्ध से जीव है ?

उत्तर : नहीं, जीवत्व नामक अपर सामान्य के सम्बन्ध से जीव है, जीव स्वतः सिद्ध नहीं है, यह मत ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यत्व के सम्बन्ध से द्रव्य है ऐसा मानने में जो दोष दिये गये हैं वे दोष यहाँ लागू हो जाते हैं। (देखें - रा.वा. ५/२) अथवा-

अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष आते हैं।

अनवस्था एवं प्रतिज्ञाहानि दोष-

१. जो जीवत्व के सम्बन्ध से जीव है, ऐसी कल्पना करते हैं- उनसे मैं पूछता हूँ कि जीवत्व में किसके सम्बन्ध से जीवत्व है, यदि जीवत्व में अन्य के सम्बन्ध से जीवत्व मानते हैं तो अनवस्था दोष आता है। यदि इस अनवस्था दोष के भय से जीवत्व को स्वतः सिद्ध मानते हैं तो 'अर्थान्तर के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रत्यय होता है' इस प्रतिज्ञा की हानि होती है अतः जिस प्रकार जीवत्व स्वतः सिद्ध है वैसे जीव को भी स्वतः सिद्ध मान लेना चाहिए।

२. यदि दीपक के समान जीव में स्वतः जीवत्व मानते हो तो 'जीव' में स्वतः प्रत्यय मानने में संतोष क्यों नहीं है। जीव और जीवत्व में पदार्थान्तरत्व (भिन्नत्व) नहीं है क्योंकि इनमें भिन्नत्व सिद्ध नहीं है, यदि

जीव और जीवत्व में भिन्नत्व होगा तो धर्मसङ्कर (भिन्न पदार्थ का धर्म भिन्न पदार्थ के धर्म में) आयेगा। परन्तु जीव और जीवत्व में पदार्थान्तर नहीं है। क्योंकि वह स्वतः असिद्ध है। **अथवा-**

३. एक पदार्थ का धर्म यदि अन्य पदार्थ में आरोपित नहीं होता है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होती है क्योंकि सत्ता का 'सत्प्रत्ययहेतुत्वलक्षण' धर्म द्रव्य, गुण और कर्म में नहीं जायेगा परन्तु तुम्हारे मत से सत्ता के योग से सत्त्व गुण कर्म और द्रव्य में आते हैं। यदि सत्ता का सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यादि में सत्प्रत्यय हेतुता नहीं है किन्तु सत्ता में ही है तो फिर सत्प्रत्यय से रहित होने से द्रव्य, गुण और कर्म को खरविषाण के समान 'सत्' ही नहीं कह सकेंगे। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'जीवत्व' के योग से जीव नहीं है अपितु जीवनक्रिया से उपलक्षित द्रव्यविशेष में 'जीव' यह संज्ञा अनादि पारिणामिकी और स्वभावभूत है। **(रा.वा. १-२)**

पूर्वोक्त द्रव्यों की विशेषता कहते हैं-

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

नित्य-अवस्थितानि-अरूपाणि ।

ये द्रव्य (नित्य) नित्य (अवस्थितानि) अवस्थित और (अरूपाणि) अरूपी हैं।

अर्थ - ये द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं।

१. प्रश्न : नित्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : नित्य शब्द का अर्थ ध्रौव्य है। 'ने ध्रुवे' नि धातु ध्रुव अर्थ में है इसलिए 'नित्य' शब्द का अर्थ ध्रौव्य जानना चाहिए। **अथवा** - जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना द्रव्य है। द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है, उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते हैं। **(रा.वा. १-२)** द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गति हेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणों को ग्रहण करने वाले और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अस्तित्व आदि रूप सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाले ये छहों द्रव्य कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होते इसलिए नित्य हैं। इसे आगे तद्भावाव्ययं नित्यम् (५-३१) सूत्र में कहेंगे। **(सर्वा. ५३३)**

२. प्रश्न : अवस्थित किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मादि छहों द्रव्य कभी भी छह (इस) संख्या का उल्लंघन नहीं करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। **(सर्वा. ५३३)** ये धर्मादि छहों द्रव्य कभी अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते (न तो कभी सात होते हैं और न कभी पाँच) अतः अवस्थित हैं। **अथवा-** धर्म, अधर्म, अलोकाकाश और एक जीव में तुल्य असंख्यात प्रदेश है। अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बताये गए हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वैसे ही अवस्थित रहते हैं इसलिए अवस्थित कहे जाते हैं। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'अवस्थित' वचन नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'नित्य' पद से ही अवस्थित की सिद्धि होती है।

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि धर्मादि द्रव्यों के गत्युपग्रह, स्थित्युपग्रह, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, मूर्तिमत्त्व, अमूर्तिमत्त्व आदि अनेक लक्षण वाले अनेक परिणमन होते हैं, अतः नित्य के बाद भी अवस्थित वचन का कथन किया है। इससे जाना जाता है कि धर्मादि द्रव्य गति-उपग्रह आदि रूप से अनेक रूप परिणमन करने पर भी कभी धर्म, अधर्म, आकाश और काल में मूर्तिमत्त्व, उपयोगत्व परिणाम नहीं होते। जीव में अचेतनत्व और पुद्गल में अमूर्तिमत्त्व नहीं आ सकते इसलिए सर्व द्रव्य नित्य होते हुए भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते, इस कथन को सूचित करने के लिए अवस्थित वचन का ग्रहण किया है। (रा.वा. ४)

४. प्रश्न : जो अवस्थित हैं वे अनेक रूप परिणमन कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर : इस कथन में कोई विरोध नहीं है क्योंकि उभय नय का सद्भाव है। धर्मादि सर्व द्रव्यों में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की गौण-मुख्य विवक्षा से अनेक प्रकार का परिणमन बन जाता है स्थिति, उत्पत्ति और ध्रौव्यत्व एक साथ रहते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और अवस्थित हैं और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा परिणमन होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अथवा- 'नित्य' शब्द अवस्थित का विशेषण जाना जाता है। जैसे गमनागमन आदि अनेक क्रियाओं के करते रहने पर भी सतत प्रजल्प बकवास करने के कारण देवदत्त में 'नित्य बकवास करता है' यह व्यवहार कर दिया जाता है उसी प्रकार बाह्य अभ्यन्तर कारणों से उत्पाद-व्यय होने पर भी धर्मादि पदार्थ कभी अपने अमूर्तिमत्त्व स्वभाव को नहीं छोड़ते अतः इन्हें नित्य अवस्थित कहते हैं। (रा.वा. ५-६)

५. प्रश्न : वृत्ति (अपर शास्त्र) में अवस्थित धर्मादि अपनी पंचत्व की संख्या को कभी नहीं छोड़ते, यह कथन होने से षट् द्रव्य के उपदेश का व्याघात होता है ?

उत्तर : वृत्ति के कथन से षट् द्रव्य का व्याघात होता है, ऐसा कहने वाले ने सूत्रकार के अभिप्राय को नहीं समझा क्योंकि वृत्तिकार के अभिप्राय से वृत्ति में 'कालश्च' सूत्र से निर्दिष्ट होने वाले काल-द्रव्य का लक्षण आगे करेंगे, उसकी अपेक्षा न करके पाँच का निर्देश किया गया है। अतः वृत्ति में पाँच संख्या होते हुए भी छह द्रव्य के उपदेश का व्याघात नहीं होता है। (रा.वा. ९)

६. प्रश्न : सूत्र में 'अरूपी' विशेषण क्यों दिया गया है ?

उत्तर : सूत्र में 'अरूपी' विशेषण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए दिया है अथवा-रूपादि का निषेध करके धर्मादिक के अमूर्तिमत्त्व स्वभाव की सूचना करने के लिए है। नहीं है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है। रूप के निषेध से रूप के अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। अरूपी का अर्थ अमूर्तिक है। (रा.वा. ८)

उपर्युक्त सूत्र में अपवाद कहते हैं-

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

(पुद्गलाः) पुद्गल द्रव्य (रूपिणः) रूपी होते हैं।

अर्थ - पुद्गल द्रव्य रूपी है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जैसे सर्व द्रव्यों का 'नित्यावस्थितानि' यह साधारण लक्षण है उसी प्रकार अरूपत्व भी सर्व द्रव्यों को प्राप्त हो जायेगा। इस अपवाद को दूर करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ५)

२. प्रश्न : रूपादि एवं मूर्त्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकृतियों को रूपादि कहते हैं और उन रूप रसादि और गोल, चौकोरादि संस्थान (आकृति) रूप जिसका परिणमन है उसे मूर्त्ति कहते हैं।

अथवा - रूप शब्द से आँखों के द्वारा ग्रहण करने योग्य रूप नामक पुद्गल के गुणविशेष को ग्रहण करना चाहिए। (रा. वा. २-३)

३. प्रश्न : क्या पुद्गल में मात्र रूप कहने से रसादि का ग्रहण नहीं होता ?

उत्तर : पुद्गल को रूपी कहने से रसादि का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि रस, गन्ध और स्पर्श का रूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः रूप के कहने से रसादि का ग्रहण हो ही जाता है। (रा.वा.४)

४. प्रश्न : पुद्गल से रूपादि भिन्न हैं या अभिन्न ?

उत्तर : पुद्गल से रूपादि कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न। यद्यपि पुद्गल द्रव्य से भिन्न रूप नहीं हैं, पुद्गल का ही परिणमन होने से द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा रूप पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नहीं है तथापि पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से रूप का नाश होने पर भी पुद्गल द्रव्य अवस्थित रहता है। क्योंकि रूपादि तो उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। जैसे- आम का हरा रूप नष्ट हो गया और पीत वर्ण की उत्पत्ति हो गई परन्तु पुद्गल द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है, रूपादि गुण आदिमान् हैं और पुद्गल द्रव्य अनादि है। द्रव्य अन्वयी है, सर्व पर्यायों में रहता है, रूपादि गुण व्यतिरेकी हैं, (द्रव्य की सब पर्यायों में नहीं रहते), रूपादि गुण वचनविज्ञान के हेतु हैं और पुद्गल वचनागोचर है, इत्यादि कारणों से रूपादि गुण पुद्गल द्रव्य से कथंचित् भिन्न है (एवं कथंचित् अभिन्न)। (रा.वा. ५)

५. प्रश्न : सूत्र में 'पुद्गलाः' बहुवचन क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'पुद्गलाः' इस बहुवचन के ग्रहण करने का प्रयोजन है पुद्गल के भेदों का

प्रतिपादन। अतः परमाणु और स्कन्ध आदि के भेद से पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। उनकी सूचना देने के लिए 'पुद्गलाः' यहाँ बहुवचन किया है। (रा.वा. ७)

६. प्रश्न : सूत्र में दिये गये रूप शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : यद्यपि रूप शब्द के स्वभाव, अभ्यास, श्रुति, महाभूत, गुण, मूर्ति आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहाँ शास्त्रानुसार 'मूर्ति' अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अर्हत कथित और गणधर रचित शास्त्र-अनुसार रूपी द्रव्य अर्थात् मूर्तिमान् द्रव्य ग्रहण करना चाहिए। इसलिए यहाँ पुद्गल मूर्तिक है, इस अर्थ का ग्रहण करना चाहिए। (रा.वा. १)

द्रव्यों की संख्या कहते हैं-

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

आ-आकाशात्-एक-द्रव्याणि ।

(आ-आकाशात्) आकाश पर्यन्त (एक द्रव्याणि) एक-एक द्रव्य हैं।

अर्थ - आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्य हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या पुद्गल के समान धर्म-अधर्म आदि द्रव्य भी प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं ? ऐसी आशंका होने पर यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ६)

२. प्रश्न : सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण किस अर्थ में है ?

उत्तर : सूत्र में 'आङ्' पद का अर्थ अभिविधि है। अभिविधि का अर्थ है अभिव्याप्ति, उस अभिव्याप्ति के अर्थ में यहाँ 'आङ्' का प्रयोग किया गया है। इससे आकाश के भी एक द्रव्यत्व का कथन हो जाता है। 'अजीवकायाः' इस सूत्र की आनुपूर्वी का आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है इसलिये इससे धर्म, अधर्म और आकाश को ग्रहण करना चाहिए। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : धर्मादि छह द्रव्य प्रसिद्ध हैं अतः सूत्र में दिया गया 'द्रव्याणि' पद निरर्थक है ?

उत्तर : सूत्र में 'द्रव्याणि' पद निरर्थक नहीं है क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा एकत्व का ख्यापन करने के लिए द्रव्य पद दिया गया है। केवल 'एकैकं' कहने से यह पता नहीं चलता कि ये किस अपेक्षा से एक कहे जा रहे हैं, द्रव्य की अपेक्षा या क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अतः असंदिग्ध रूप से द्रव्य की अपेक्षा का सूचन करने के लिए 'द्रव्य' पद देना सार्थक ही है। (रा.वा. ६)

४. प्रश्न : इन द्रव्यों में एकानेकता (एक-अनेक) किस अपेक्षा से है ?

उत्तर : गति, स्थिति आदि परिणाम वाले विविध जीव-पुद्गलों की गति आदि में निमित्त होने

से भाव की अपेक्षा, प्रदेश भेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल-भेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य में अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक-एक ही द्रव्य हैं। अवगाही अनेक द्रव्यों की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश से क्षेत्र की अपेक्षा आकाश में अनन्तता होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक ही है।

जीव और पुद्गल की तरह धर्म, अधर्म और आकाश अनेक नहीं हैं और न जीव और पुद्गल धर्म, अधर्म आकाश की तरह एक हैं। (रा.वा. ६)

५. प्रश्न : यदि जीव और पुद्गल को भी धर्मादि के समान एक माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि जीव और पुद्गल को धर्म-अधर्म और आकाश के समान एक-एक द्रव्य माना जाएगा तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले क्रिया-कारक का और इष्ट अनुमान सिद्ध संसार-मोक्ष की क्रिया के विस्तार का विरोध आयेगा। अर्थात् अखण्ड एक द्रव्य के न तो क्रिया, कारक का भेद होगा अर्थात् सबकी क्रिया एक सी होगी। यह चटाई पर बैठा है, वृक्ष से पत्ते गिर रहे हैं, इत्यादि भेद नहीं होगा और न संसार और मोक्ष की क्रिया का विस्तार रहेगा। (रा.वा. ६)

धर्मादि द्रव्यों की विशेषता कहते हैं-

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थ - ये द्रव्य निष्क्रिय हैं।

१. प्रश्न : क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणों से होने वाली देश से देशान्तर की प्राप्ति में कारणभूत द्रव्य की पर्याय विशेष को क्रिया कहते हैं। (रा.वा.१) अन्तरंग एवं बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है वह क्रिया कहलाती है। (सर्वा. ५३९) देशान्तर प्राप्ति का हेतु ऐसी जो परिस्पन्द रूप पर्याय है, वह क्रिया है। (प.का. ९८)

२. प्रश्न : क्रिया में बाह्य एवं अभ्यन्तर कारण क्या हैं ?

उत्तर : अभ्यन्तर कारण-क्रिया परिणाम शक्ति युक्त द्रव्य अभ्यन्तर (उपादान) कहलाता है।

बाह्य कारण - नोदन (चोट मारना), अभिघात (टुकड़े करना) आदि की अपेक्षा से उत्पद्यमान द्रव्य की पर्याय विशेष को बाह्य कारण कहते हैं। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : कौन-कौन से द्रव्य सक्रिय एवं कौन-कौन से निष्क्रिय हैं ?

उत्तर : आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं काल द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा बहिरंग साधन के साथ

रहने वाले जीव सक्रिय हैं, बहिरंग साधन के साथ रहने वाले पुद्गल सक्रिय हैं। जीव पुद्गलों की सहायता से एवं पुद्गल काल द्रव्य के कारण क्रियावान होते हैं। (पं. का.स. ९८)

गति, स्थिति और अवगाह ये तीन क्रियाएँ जीव और पुद्गल में ही होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश में क्रिया नहीं होती है क्योंकि न तो ये अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जाते हैं और न इनके प्रदेशों में ही चलन होता है। किन्तु ये धर्मादि द्रव्य गति आदि क्रियाओं में मुख्य साधक होते हैं। (गो.जी.जी. ५६६)

४. प्रश्न : जीव-पुद्गलों की सक्रियता का बहिरंग कारण क्या है ?

उत्तर : जीवों के सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के संचय रूप पुद्गल है इसलिए जीव पुद्गल करण वाले हैं, उसके अभाव के कारण सिद्धों के निष्क्रियपना है। (पं. का. स. ९८) जीवों ने क्रिया रहित निर्विकार शुद्धात्मा के अनुभव की भावना से गिरकर अपने मन, वचन, काय की हलन-चलन क्रिया की परिणतियों से जो द्रव्य-कर्म या नोकर्म पुद्गल एकत्र किये हैं वे ही जीवों की क्रिया में कारण होते हैं। (पं.का.ता. ९८)

पुद्गलों के सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक (उत्पन्न करने वाला) काल है इसलिए पुद्गल काल करण वाले हैं। कर्मादि की भाँति काल का अभाव नहीं होता, इसलिए सिद्धों की भाँति (जिस प्रकार सिद्धों के निष्क्रियपना है, उस प्रकार) पुद्गलों के निष्क्रियपना नहीं है। पुद्गलों के स्कन्ध और परमाणु इन दो प्रकार के पुद्गलों के परिणमन होने में बाहरी कारण कालाणुरूप द्रव्य है, उनके निमित्त से ये क्रियावान होते हैं। (पं.का. ता. ९८)

५. प्रश्न : क्या जीव-पुद्गलों में क्रिया का अभाव नहीं होता है ?

उत्तर : कर्म-नोकर्म के अभाव से सिद्धों के निष्क्रियपना है। जीव जो शुद्धात्मानुभव की भावना के बल से कर्मों का क्षयकर तथा सर्व द्रव्यकर्म और नोकर्म पुद्गलों का अभाव करके सिद्ध हो जाते हैं और तब वे क्रियारहित हो जाते हैं, ऐसा पुद्गलों में नहीं होता है, क्योंकि काल जो वर्णादि से रहित अमूर्तिक है सो सदा ही विद्यमान रहता है। उसके निमित्त से पुद्गल यथासम्भव क्रिया करते रहते हैं। (पं.का.ता. ९८)

६. प्रश्न : जीव-पुद्गलों की क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : जीव-पुद्गलों में दो प्रकार की क्रिया होती है-

(१) स्वभाव क्रिया (२) विभाव क्रिया।

जीवों की स्वभाव क्रिया सिद्धिगमन है और विभाव क्रिया छह दिशा में गमन है। पुद्गलों की स्वभाव क्रिया परमाणु की गति है और विभाव क्रिया द्वि अणुकादि स्कन्धों की गति है। (नि.सा.टी. १८४)

७. प्रश्न : क्रिया के लक्षण में उभयनिमित्त आदि विशेषण क्यों दिये हैं ?

उत्तर : उभय (अभ्यन्तर-बाह्य) निमित्त विशेषण द्रव्य के स्वभाव की निवृत्ति के लिए है, क्योंकि क्रिया द्रव्य का सदा वर्तमान स्वभाव नहीं है, यदि क्रिया द्रव्य का स्वभाव होगा तो परिणामी द्रव्य के निरन्तर क्रियत्व का प्रसंग आयेगा।

पर्याय विशेषण अर्थान्तर की निवृत्ति के लिए है अर्थात् क्रिया द्रव्य से भिन्न नहीं है। अपितु क्रिया परिणामी द्रव्य की पर्याय है, इस बात को सूचित करने के लिए पर्याय विशेषण दिया है। यदि क्रिया द्रव्य से अर्थान्तरभूत हो तो द्रव्य में निश्चलत्व का प्रसंग आयेगा। देशान्तर विशेषण ज्ञानादि या रूपादि गुणों की व्यावृत्ति के लिए दिया है। (रा.वा. १)

८. प्रश्न : निष्क्रिय धर्मादि द्रव्यों के उत्पाद कैसे हो सकता है क्योंकि क्रियापूर्वक ही घटादि में उत्पाद देखा जाता है ?

उत्तर : निष्क्रिय होने से धर्मादि द्रव्यों में उत्पादादि का अभाव कहना उचित नहीं है क्योंकि अन्यथा उपपत्ति है, क्रिया निमित्तक उत्पाद का अभाव होने पर भी इन धर्मादि में अन्यथा (अन्य प्रकार का) उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकार का है-

(१) स्वनिमित्तक (२) परप्रत्यय।

स्वनिमित्तक - आगम प्रमाण से स्वीकृत अनन्त अगुरुलघु गुणों की अपेक्षा द्रव्यों में षट् स्थान पतित वृद्धि और हानि से सभी द्रव्यों में स्वाभाविक उत्पाद-व्यय होता है यह स्वनिमित्तक उत्पाद है।

परप्रत्यय - पर प्रत्यय भी उत्पाद-व्यय अश्वादि की गति, स्थिति और अवगाहन में निमित्त होने से होते हैं। उन पदार्थों में प्रतिक्षण परिणमन होता है अतः उनकी अपेक्षा उनके हेतुत्व में भी भिन्नता होती है। अतः परप्रत्यय की अपेक्षा से भी धर्म-अधर्म आदि में उत्पाद-व्यय का व्यवहार होता है। (रा.वा. ३)

९. प्रश्न : निष्क्रिय धर्मादि द्रव्य जीवादि की गति में कारण कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : निष्क्रिय धर्मादि गति में कारण नहीं होते ऐसा नहीं कहना क्योंकि यह द्रव्य इन्द्रिय के समान बलाधान मात्र है। जैसे- रूप देखने की इच्छा करने वाले आत्मा की रूप की उपलब्धि में चक्षु इन्द्रिय बलाधायक मात्र इष्ट है। इन्द्रियान्तर में उपयुक्त आत्मा को वह स्वयं प्रेरणा नहीं करती। जैसे आयु के क्षय हो जाने पर आत्मा के शरीर से निकल जाने पर शरीर में विद्यमान भी इन्द्रियाँ रूपादि की उपलब्धि में समर्थ नहीं होतीं। अतः ज्ञात होता है कि आत्मा में ही रूपादि को जानने की शक्ति है, इन्द्रियाँ तो मात्र बलाधायक होती हैं, उसी प्रकार स्वयं गति, स्थिति और अवगाहन रूप से परिणमन करने वाले जीव और पुद्गलों के गति, स्थिति आदि में धर्म, अधर्म आदि द्रव्य बलाधान मात्रत्व से विवक्षित है वा निमित्त मात्र है, वे स्वयं क्रिया नहीं करते हैं। (रा.वा. ४)

१०. प्रश्न : ये धर्मादि द्रव्य स्वयं क्रिया क्यों नहीं करते ?

उत्तर : जिस प्रकार आकाश अपने द्रव्य-सामर्थ्य से गमन नहीं करने पर भी सभी द्रव्यों से सम्बद्ध और सर्वगत कहलाता है, ऐसा सामर्थ्य अन्य द्रव्य में नहीं है। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों को निष्क्रिय

होने पर भी जीव पुद्गलादि की गति, स्थिति आदि के प्रति असाधारण बलाधानमात्र (निमित्त) जानना चाहिए। (रा.वा.५)

११. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द अभिहित धर्मादि द्रव्यों के सम्बन्ध के लिए है। धर्म, अधर्म आदि में निष्क्रियत्व का नियम होने से ही जीव और पुद्गलों के स्व-पर-प्रत्यय सक्रियता सिद्ध हो जाती है। (रा.वा.६)

१२. प्रश्न : क्या इन द्रव्यों में एकान्त से उत्पाद-व्यय होता है ?

उत्तर : द्रव्यों में उत्पाद-अनुत्पाद, व्यय-अव्यय देखे जाते हैं। पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद और व्यय से शून्य हैं, निष्क्रिय हैं और नित्य हैं। द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हैं, सक्रिय हैं और अनित्य हैं; इस प्रकार इनमें अनेकान्त समझना चाहिए। (रा.वा. २५)

द्रव्यों के प्रदेश :

धर्म-अधर्म और एक जीव के प्रदेशों की संख्या कहते हैं-

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ॥८ ॥

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्म-अधर्म-एक-जीवानाम् ।

(धर्माधर्मैकजीवानां) धर्म, अधर्म और एक जीव के (असंख्येयाः प्रदेशाः) असंख्यात प्रदेश होते हैं।

अर्थ - धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'अजीवकाया...' इस सूत्र में काय शब्द के ग्रहण करने पर प्रदेशों के अस्तित्व मात्र का ज्ञान होता है, प्रदेशों की इयत्ता (परिमाण) की अवधारणा नहीं होती इसलिए उनकी संख्या का निर्धारण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. ३.८)

२. प्रश्न : असंख्येय किसे कहते हैं ?

उत्तर : संख्या विशेष से अतीतत्व होने से वे असंख्येय हैं। संख्या, संख्या और गणना ये एकार्थवाची हैं। स्वलक्षण से परस्पर विशेष्य-विशेष हैं, संख्या का विशेष संख्या विशेष है और संख्या को अतिक्रान्त असंख्येय है, जो गिनती की सीमा को पार कर गये हैं, जो किसी के द्वारा गिने नहीं जा सकते हैं, उनको असंख्येय कहते हैं। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : यदि संख्या किसी के द्वारा नहीं जानी जाती है तो सर्वज्ञत्व का अभाव हो जायेगा?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना क्योंकि जैसे सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त रूप से जानता है तो सर्वज्ञत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार वह असंख्यात को असंख्यात रूप से जानता है इसलिए सर्वज्ञत्व की हानि नहीं होती। सर्वज्ञ प्रभु यथार्थ जानने वाले होने से अन्य रूप से अवस्थित वस्तु को अन्यथा रूप से नहीं जानते। (रा.वा.२)

४. प्रश्न : यहाँ कौन से असंख्यात को ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : पदार्थ के परिज्ञान में संख्या का मान संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से तीन प्रकार का है। यहाँ पर अजघन्योत्कृष्ट असंख्यात लेना चाहिए। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : “असंख्येयप्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवाः” ऐसा लघु सूत्र बनाना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उत्तर सूत्र के साथ भेद करने का सम्बन्ध है। ‘प्रदेशाः’ यह शब्द उत्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध रखता है। यदि ‘असंख्येय-प्रदेशाः’ ऐसा द्रव्य प्रधान निर्देश करते तो प्रदेश पद गौण हो जाता और आगे के सूत्र के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता तथा प्रत्येक सूत्र के साथ प्रदेश ग्रहण करने पर सूत्र बड़ा हो जाता इसलिए ‘असंख्येयाः प्रदेशाः’ यह पद पृथक् ग्रहण किया है। (रा.वा. ९)

६. प्रश्न : एक अखण्ड द्रव्य की प्रदेश कल्पना उपचार से होती है और उपचार मिथ्या होता है अतः धर्मादि में असंख्यात प्रदेश नहीं मानना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मुख्य क्षेत्र के विभाग से मुख्य ही क्षेत्र का विभाग है क्योंकि घट के द्वारा आकाश का जो क्षेत्र अवगाहित किया जाता है वही आकाश अन्य घटादि के द्वारा अवगाहित नहीं किया जाता, क्योंकि दोनों के प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं। यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था, अतः द्रव्य अविभागी होकर भी प्रदेश से शून्य नहीं है। (रा.वा. ५)

७. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के मुख्य प्रदेशों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : प्रत्यक्षत्व होने से घटादि के प्रदेशों की अवधारणा स्वतः हो सकती है परन्तु धर्मादि द्रव्य अत्यन्त परोक्ष होने से उनके मुख्य भी प्रदेशों का स्वतः अवधारित होना शक्य नहीं है। गौण प्रदेश होने से स्वतः नहीं जाने जाते, ऐसी बात नहीं है। परोक्ष होने से परमाणु के नाप से उनका व्यवहार किया जाता है। अथवा-आगम प्रमाण से जाना जाता है। युगपत् सकल पदार्थों को जानने वाले ज्ञान से युक्त अर्हन्त के द्वारा कथित, गणधर के द्वारा अनुस्मृत वचन से रचित और उन गणधर के शिष्य-प्रशिष्यों की प्रज्ञारूपी लहरों की परम्परा से प्राप्त श्रुतनामक आगम है, उस श्रुत-प्रमाण से धर्म, अधर्म और आकाश के क्षेत्रप्रदेश मुख्य हैं। अथवा -

जीव के प्रदेश चल और अचल दोनों प्रकार के होते हैं इस प्रकार आगम कथित प्रमाण से धर्मादि में मुख्य ही प्रदेश जानने चाहिए, गौण नहीं। **अथवा** - इन्द्रिय, परिणाम, वचन से भी जीवादि के मुख्य प्रदेशों की सिद्धि है। आगम में वीर्यान्तराय और मति श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम तथा अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय में उत्सेधाङ्गुलके असंख्यात वें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म-प्रदेशों में चक्षु आदि इन्द्रिय पर्याय की प्राप्ति बताई गई है तथा प्रतिविशिष्ट प्रदेशत्व होने से परस्पर स्थान संक्रमण से साक्षात् प्रदेश जाने जाते हैं। इसलिए आगम-प्रमाण से जाना जाता है कि जीवादि के मुख्य ही प्रदेश हैं, गौण नहीं।

द्रव्यों की प्रतिनियत स्थानों में स्थिति बताई जाने से भी ज्ञात होता है कि आकाश आदि के मुख्य ही प्रदेश हैं। यहाँ अन्य आकाशप्रदेशों में पाटलिपुत्र है और मथुरा अन्य प्रदेशों में है अतः आकाश प्रदेश नाना हैं। **अथवा** - एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्बन्ध को प्राप्त होता है कि नहीं ? यदि एक परमाणु सम्पूर्ण आकाश से सम्बन्ध को प्राप्त होता है तो स्पष्टतः निर्दोष रूप से सिद्ध होता है कि आकाश के मुख्य प्रदेश हैं। (रा.वा. १४-१९)

८. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों में एकत्व है या अनेकत्व ?

उत्तर : पुरुष के समान धर्मादि द्रव्यों में एक-अनेक प्रदेशत्व के प्रति अनेकान्त है। जैसे - आत्मा के सामान्य पुरुष-शरीर की दृष्टि से प्रदेशों में एकत्व है और उसी पुरुष के ही सिर, पीठ, उदर, हाथ, पैर, अंगुलि, अंगुलि का पर्व, नाक आदि अंग-उपाङ्ग, रूप पर्याय की दृष्टि से प्रदेशों में अनेकत्व है। **अथवा**-

पुरुष द्रव्य की दृष्टि से एकत्व होने पर भी अपनी पुरुषत्व जाति का त्याग न करके पावक (पकाने वाला), लावक (काटने वाला) आदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा पुरुष में अनेकत्व भी है। **अथवा** -

पिता, पुत्र, भाई, भानजा, चाचा, मामा आदि पर्यायों की दृष्टि से भी अनेकता है। **अथवा** -

पञ्चेन्द्रिय, आरोग्य, मेधावी, पटु, कुशल, सुशीलत्वादि व्यवहारों में कारणभूत पर्यायों की दृष्टि से अनेकता है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवों के आत्मीय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकप्रदेशत्व है और प्रतिनियत प्रदेशपर्यायों की अपेक्षा से अनेक प्रदेशत्व है। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व में अनेकान्त है। (रा.वा. २१)

९. प्रश्न : आत्मा के प्रदेशों में प्रदेशभेद है या नहीं ?

उत्तर : अनादि काल से संसारी जीव कर्मबन्धन से आबद्ध है। अतः उस बन्धन की अपेक्षा उस बन्धन का अनुविधायी होने से संसारी जीव अवयव सहित है और संसारी जीव के प्रदेशत्व है। शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आत्मा उपयोगस्वभावी और अखण्ड है अतः शुद्ध नय की अपेक्षा आत्मा में प्रदेशभेद नहीं है, व्यवहार नय की अपेक्षा प्रदेश भेद होते हुए भी आत्मा में निश्चय नय की अपेक्षा प्रदेशभेद नहीं है। (रा.वा. २२)

१०. प्रश्न : जीव के कितने प्रकार के प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : जीव के दो प्रकार के प्रदेश होते हैं-

(१) चल प्रदेश (२) अचल प्रदेश।

चल प्रदेश - व्यायाम के समय या दुःख, क्रोध, परिताप के उद्रेक से परिणत होने के समय सर्व जीवों के उपर्युक्त आठ प्रदेशों को छोड़कर शेष सर्व प्रदेश अस्थित (चल) होते हैं। जीवप्रदेशों के उथल-पुथल रूप परिस्पन्दन को अस्थित कहते हैं

अचल प्रदेश - भवान्तर परिणमन के समय, सुख-दुःखादि के अनुभव में तथा क्रोधादि परिणाम दशा में जीव के प्रदेशों की उथल-पुथल रूप परिस्पन्दन की अप्रवृत्ति को स्थित प्रदेश कहते हैं। (रा.वा.१६)

११. प्रश्न : किन-किन द्रव्यों के चल-अचल प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : सर्व जीवों के आठ मध्य प्रदेश सदा निरपवाद रूप से स्थित ही रहते हैं। अयोग केवली और सिद्धों के सर्वप्रदेश अचल ही रहते हैं। शेष जीवों के प्रदेश चल और अचल दोनों प्रकार के होते हैं। (रा.वा. १६) मुक्त जीव, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल के प्रदेश अचल हैं। विग्रहगति में रूपी (संसारी) जीवों के प्रदेश चल ही होते हैं। अयोग-केवली अवस्था में प्रदेश अचल ही होते हैं। शेष जीवों के आठ प्रदेश अचल और शेष प्रदेश चल होते हैं। पुद्गल द्रव्य में परमाणु और द्व्यणुक आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध चलित होते हैं। अन्तिम महास्कन्ध में प्रदेश चल, अचल हैं। क्योंकि उसमें कोई भाग चल है और कोई भाग अचल है। (गो.जी.जी. ५९२-९३)

१२. प्रश्न : धर्म, अधर्म एवं जीव द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं ?

उत्तर : लोकाकाश के प्रदेश, धर्मद्रव्य के प्रदेश, अधर्मद्रव्य के प्रदेश और एक-एक जीवद्रव्य के प्रदेश संख्या की दृष्टि से समान ही हैं क्योंकि प्रत्येक जगत्श्रेणि के घन प्रमाण है। (गो.जी.जी. ५९१)

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। (त.सू ५/८)

धर्म और अधर्म द्रव्य के अवस्थित-स्थायी रूप से लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशता है। जीव के व्यवहार से शरीर के बराबर आकार वाला होने पर भी निश्चय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात-प्रदेशता है। (प्र.सा.ता. १३५)

१३. प्रश्न : प्रदेश किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक परमाणु से आविष्ट (घिरे हुए) आकाश को आकाशप्रदेश नाम से कहा जाता है और वह सभी परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है। (प्र.सा.ता. १४०) आकाश के जितने क्षेत्र को एक परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। वह दूर और निकट व्यवहार में कारण होता है। (गो.जी.जी. ५७३)

आकाश के प्रदेश कहते हैं-

आकाशस्यानन्ताः ॥९॥

आकाशस्य - अनन्ताः ।

(आकाशस्य) आकाश के (अनन्ताः) अनन्त प्रदेश हैं।

अर्थ - आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

१. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ये आकाश के प्रदेश हैं ?

उत्तर : पूर्व में कहे गये “असंख्येया..... ॥८॥” सूत्र की निकटता से ‘प्रदेशाः’ पद का सम्बन्ध यहाँ हो जाता है। (रा.वा. १)

२. प्रश्न : आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर : जीवराशि के अनन्तवें भाग प्रमाण सिद्ध राशि है, सिद्धों से अनन्त गुणी निगोद राशि है। इससे अनन्त गुणी पुद्गल राशि है। इससे अनन्तगुणे काल के समय हैं। इनसे भी अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। (त.सू. ५/९)

३. प्रश्न : आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : जो वस्तु जिस रूप से व्यवस्थित है उसको उसी रूप से जानना प्रमाण वा स्वभाव होने से जिस प्रकार प्रमाण संख्यात-असंख्यात को संख्यात-असंख्यात रूप से जानता है उसी प्रकार अनन्त को (आकाश के अनन्त प्रदेशों को) अनन्त रूप से जानता है। इसमें कोई विरोध नहीं है इसलिए आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं, यह बहुत अच्छा कहा गया है। (श्लो. ६/९६)

(सर्वज्ञ भगवान का अतिशयशाली क्षायिक ज्ञान अनन्तानन्त है। उस क्षायिक अतिशयशाली अनन्त ज्ञान के द्वारा अनन्त का अनन्त रूप से ही साक्षात् ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्त प्रदेशी आकाश का ज्ञान कर लेते हैं) अतः आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से आकाश के अनन्त प्रदेशों के परिमाण का ज्ञान हो जाता है। (श्लो. ६/९६)

पुद्गल के प्रदेश बताते हैं-

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

संख्येया-असंख्येयाः च पुद्गलानाम्।

(पुद्गलानां) पुद्गलों के (संख्येयासंख्येयाश्च) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

अर्थ - पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अमूर्तिक धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का परिमाण कह दिया गया, अब मूर्तिक पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण जानने योग्य है, उसको बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १०)

२. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर : पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। किसी दो अणु आदि पुद्गल द्रव्य के संख्यात प्रदेश हैं, किसी के असंख्यात प्रदेश हैं और किसी पुद्गल के अनन्त प्रदेश हैं। (रा.वा.१)

यहाँ अनन्त सामान्य होने से अनन्तानन्त का भी अनन्त में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः सूत्र में अनन्त का ग्रहण किया है। (रा.वा. २) योगीश्वरों ने पुद्गलद्रव्य के एक प्रदेश को आदि ले संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेश कहे हैं। (ज्ञा. ६/४४)

३. प्रश्न : असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध कैसे रह सकता है?

उत्तर : सूक्ष्म भाव से परिणत परमाणु एक-एक आकाशप्रदेश पर अनन्तानन्त अवस्थित है अतः पुद्गलों के सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहना शक्ति के कारण अनन्तानन्त पुद्गलों के स्कन्ध का भी अवगाह हो जाता है। जैसे- संकुचित चम्पा की कली में सूक्ष्म रूप से बहुत से गन्ध के अवयव रहते हैं और जब वे फैलते हैं, विस्तारित होते हैं, स्थूल प्रचय परिणाम से बाहर निकलते हैं तब सब दिशाओं को व्याप्त कर लेते हैं, ऐसा देखा जाता है। अथवा -

जैसे कि अल्प कण्डा या लकड़ी में जो प्रचय विशेष अवगाह (सूक्ष्म रूप से एक क्षेत्र में स्थित) हैं वे ही पुद्गल अग्नि से जलने पर धूम के रूप में सारे दिग्मण्डल में व्याप्त होकर फैल जाते हैं, ऐसा देखा जाता है। उसी प्रकार संकोच-विस्तार रूप परिणमन होने से अल्प लोकाकाश में भी अनन्तानन्त जीव-पुद्गलों का अवस्थान हो जाता है। (रा.वा. ३-६)

अणु के प्रदेश कहते हैं-

नाणोः ॥११॥

न - अणोः।

(अणोः) अणु के प्रदेश (न) नहीं होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'पुद्गलों के' ऐसा अविशेष वचन होने से परमाणु के भी प्रदेशत्व का प्रसङ्ग होने पर, उसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है। (रा.वा.उ. ११) पूर्व सूत्र में 'पुद्गलानां' यह सामान्य वचन कहा है। इससे परमाणु के भी प्रदेशों का प्रसंग प्राप्त होता है अतः उसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है। (सर्वा. ५४६)

२. प्रश्न : परमाणु के प्रदेश क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : अणु प्रदेश मात्र है। जैसे- आकाश का एक प्रदेश अन्य प्रदेश रूप न होने से अप्रदेशी है, उसी प्रकार परमाणु के भी प्रदेशमात्र होने से अन्य प्रदेश नहीं हैं। परमाणु से छोटी कोई वस्तु ही नहीं है जिससे परमाणु के प्रदेशों का भेद किया जावे। अतः स्वयं में आदि-अन्त परिमाण वाला होने से परमाणु अप्रदेशी है। (रा.वा. १-२)

३. प्रश्न : अणु को अणु क्यों कहते हैं ?

उत्तर : इसका 'अणु' यह सार्थक नाम भी है। जैसे- प्रदीपन करने के कारण प्रदीप की संज्ञा सार्थक है, उसी तरह 'अणु' अर्थात् सूक्ष्म होने से 'अणु' संज्ञा भी सार्थक है। यदि अणु के भी प्रदेश प्रचय होगा तो फिर वह अणु ही नहीं कहलाएगा, उसके प्रदेश ही अणु कहे जायेंगे। (रा.वा.३)

४. प्रश्न : अणु के प्रदेश नहीं होते हैं अतः उसका अभाव कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि अणु प्रदेशमात्र है, गंधे के सींग के समान अप्रदेशी नहीं है। आदि, मध्य और अन्त का अभाव होते हुए भी विज्ञान का अभाव नहीं है, उसी प्रकार परमाणु के भी आदि, मध्य और अन्त का व्यपदेश न होने पर भी परमाणु का अभाव नहीं है। परमाणु के अस्तित्व की सिद्धि आगे करेंगे। (रा.वा. ५)

द्रव्यों का आधार :

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

लोकाकाशे - अवगाहः ।

इन द्रव्यों का (अवगाहः) अवगाह (लोकाकाशे) लोकाकाश में है।

अर्थ - इन सभी द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है।

१. प्रश्न : धर्मादि द्रव्य कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल एवं काल द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं।

२. प्रश्न : लोकाकाश का आकार कैसा है ?

उत्तर : तीनों लोकों में अधोलोक तो पुरुष की जंघा और नितम्ब के समान है, मध्यलोक कटि (कमर) के समान, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग का अन्त मध्य अर्थात् नाभि के समान, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक पाँचवाँ-छठा स्वर्ग छाती के समान, तेरहवाँ-चौदहवाँ स्वर्ग भुजा के समान, पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ स्वर्ग स्कन्ध के समान, नौ ग्रैवेयक ग्रीवा के तुल्य, नौ अनुदिश ठोड़ी के समान, पंच अनुत्तर विमान मुख के समान एवं सिद्ध-क्षेत्र ललाट के समान है और जहाँ सिद्ध जीवों का निवास है ऐसा आकाश प्रदेश मस्तक के समान

है।^१ (हरि. पु. ४/२९-३१)

यह लोक तालवृक्ष के आकारवाला है। (ध. ४।११)

आकाश घनाकार चौकोर है। (आ.सा. ३/२४)

कमर पर हाथ रख कर और पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्य का जो आकार है उसी आकार को यह लोक धारण करता है। (हरि. पु. ४/८)

तीनों लोकों में से अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश है और मध्यलोक का आकार खड़े किये हुए आधे मृदंग के ऊर्ध्वभाग के समान है। ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के सदृश है। (ति.प. १/१३७-३८)

३. प्रश्न : पुद्गलों का वर्णन है अतः निकटतम होने से लोकाकाश में पुद्गलों का ही अवगाह होगा ?

उत्तर : यद्यपि पुद्गलों का प्रकरण है फिर भी यहाँ पर समुदाय की अपेक्षा से वर्णन है अतः समुदित धर्मादि सर्वद्रव्यों की अपेक्षा से कथन है इसलिए अनन्तर होने से पुद्गल का ही ग्रहण हो, ऐसा नहीं है तथा धर्म-अधर्म, पुद्गल, जीव आदि पृथक् क्षेत्र में भी नहीं हैं अतः सर्व द्रव्यों का आधार लोकाकाश सिद्ध होता है। (रा.वा. १)

४. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है तो आकाश का आधार क्या है ?

उत्तर : आकाश स्वप्रतिष्ठित है। अपने आप में इसकी प्रतिष्ठा है इसलिए आकाश स्वप्रतिष्ठित कहलाता है। आकाश स्वयं ही आधार है और स्वयं ही आधेय है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाले द्रव्यान्तर के आधार का अभाव है। आकाश द्रव्य से अधिक प्रमाण वाला दूसरा द्रव्य नहीं है, जिसमें आकाश द्रव्य आधेय होवे। अतः सर्वतः अन्तरहित इस आकाश के अधिकरणान्तर का अभाव होने से आकाश स्वप्रतिष्ठित है ऐसा जानना चाहिए। (रा.वा. २-३)

५. प्रश्न : आकाश का आधार मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : आकाश द्रव्य का अन्य आधार मानने पर उसका अन्य आधार, फिर उसका अन्य तथा फिर उसका भी अन्य आधार मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था दोष आयेगा। (रा.वा.४)

६. प्रश्न : यदि आकाश स्वप्रतिष्ठित है तो धर्मादि द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठित होने चाहिए ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों का अधिकरण (आधार) आकाश है, यह व्यवहार नय की अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूत नय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं। कहा भी है- आप कहाँ रहते हैं ? अपने

१. मिस्र देश के गिरजे में बने हुए महास्तूप से यह लोकाकाश का आकार किंचित् समानता रखता प्रतीत होता है। (ज.प. २४ प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन)

में (सर्वा. ५४९)। एवंभूत नय की दृष्टि से देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही है अतः इनमें आधार भाव का अभाव है। (रा.वा. ५)

७. प्रश्न : असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, असंख्यात काल द्रव्य आदि कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर : भगवान् उत्तर देते हैं- एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस की शीशी में बहुत सा स्वर्ण, राख से भरे घड़े में सूई और ऊँटनी का दूध समा जाता है, इत्यादि दृष्टान्तों से विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्य प्रदेशी लोक में भी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक लोकाकाश प्रमाण धर्म और अधर्म दो द्रव्य इन सबके अवगाह में विरोध नहीं आता है। तथा यदि इस प्रकार की अवगाहनशक्ति न हो तो लोक के असंख्य प्रदेशों में असंख्य परमाणुओं का ही समावेश होता है और ऐसा होने पर जिस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से शक्ति रूप से सब जीव निरावरण और शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव युक्त हैं उसी प्रकार व्यक्ति रूप से व्यवहार नय से भी हो जाते। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम दोनों प्रकार से उसमें विरोध है। (वृ. द्र. सं. टी. २०)

८. प्रश्न : यदि सर्व द्रव्य परमार्थ से स्वप्रतिष्ठित हैं तो वायु का आधार आकाश है, जल का आधार वायु है, सब जीवों का आधार पृथिवी है, धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है, इत्यादि अन्योन्य आधार-आधेय भाव का व्याघात होगा ?

उत्तर : ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि व्यवहार नय से उसकी सिद्धि होती है। यह सर्व अन्योन्य आधारत्व व्यवहार नय वक्तव्य बल (कहने की शक्ति) के लाभ से सिद्ध होते हैं। अतः आकाश में वायु का आधार व्यवहार नय से है। क्योंकि अन्य आधार की कल्पना करने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आता है। परमार्थ से तो आकाश के समान वायु आदि भी अपने आप में ही अवस्थित हैं। (रा.वा. ६)

९. प्रश्न : वायु आदि अपने आप में कैसे अवस्थित हैं ?

उत्तर : क्रिया से आविष्ट कर्तृ-कर्म आधार के समान वायु आदि अपने आप में रहते हैं। आस्ते-गच्छति, बैठा है, जाता है इत्यादि क्रिया कर्तृसमवायिनी क्रिया है। ओदन पकाता है, कुशूल भेदता है, कर्म समवायिनी क्रिया है। जैसे- व्यवहार नय से आस्ते, गच्छति आदि कर्तृसमवायिनी क्रियाओं का कर्ता और ओदन को पकाता है, घड़े को फोड़ता है, आदि कर्म समवायिनी क्रियाओं का आधार कर्म माना जाता है, तथा क्रिया-आविष्ट (युक्त) कर्ता और कर्म का आधार आसनादि और बटलोई समझी जाती है उसी प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा क्रिया का अधिकरण द्रव्य है और क्रियाविष्ट द्रव्य का अधिकरण द्रव्यान्तर है, परन्तु परमार्थ से एवंभूत नय की अपेक्षा से क्रिया का आधार क्रिया ही है। अर्थात् क्रिया अपने स्वरूप में ही है और द्रव्य अपने स्वरूप में, इसी प्रकार सभी द्रव्य स्वाधार हैं तथा धर्मादि का लोकाकाश में अवगाह व्यवहार नय से कहा जाता है, निश्चय नय से सर्व द्रव्यों का स्वात्मा ही अधिकरण है। (रा.वा. ७)

१०. प्रश्न : आधार कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : आधार तीन प्रकार के होते हैं-

(१) औपश्लेषिक आधार (२) वैषयिक आधार (३) अभिव्यापक आधार।

औपश्लेषिक आधार का उदाहरण चटाई है अर्थात् चटाई पर बालक सोता है।

वैषयिक आधार - आकाश में पदार्थ स्थित हैं, यहाँ आकाश वैषयिक आधार है।

अभिव्यापक आधार - तिलों में तेल, यहाँ अभिव्यापक आधार है। (गो.जी.जी. ५८३)

११. प्रश्न : लोक में कुण्डे में बेर के समान पूर्वोत्तर कालभावी पदार्थों में आधार-आधेय-भाव देखा जाता है परन्तु आकाश और धर्मादि पूर्वोत्तरकालभावी नहीं हैं अतः उनमें आधार-आधेय भाव कैसे हो सकता है ?

उत्तर : जिस प्रकार कुण्डे और बेर में और आधार-आधेय भाव मानने पर पूर्वापर-कालता और युतसिद्धि है उस तरह आकाश और धर्मादि में आधार-आधेय भाव होने पर भी पूर्वापरता और युतसिद्धि नहीं है क्योंकि शरीर में हाथ के समान अयुतसिद्ध में भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है, जैसे- हाथ और शरीर आदि में आधार-आधेय भाव होने पर भी न तो इनमें पूर्वापर काल है और न युतसिद्धि ही है, क्योंकि शरीर और हाथ ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं और अयुतसिद्ध हैं। इसी प्रकार आकाश और धर्मादि द्रव्य अनादि पारिणामिक हैं तथा एक साथ उत्पन्न हैं। इनमें कोई पहले का और कोई बाद का नहीं है अतः पूर्वापर भाव न होने पर भी आधार-आधेय भाव मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा -

इसमें अनेकान्त है। यह ऐकान्तिक नियम भी नहीं है कि युतसिद्ध के ही आधार-आधेय भाव होता है, अयुतसिद्ध के नहीं। क्योंकि स्तम्भ और सार जैसे अयुतसिद्ध और कुण्डे और बेर जैसे-युतसिद्ध दोनों पदार्थों में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है इसलिए यह एकान्त से उलाहना नहीं है क्योंकि इसमें अनेकान्त है। (रा.वा. ८-९)

१२. प्रश्न : लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ पुण्य और पाप का फल देखा जाता है, वह लोक है वा जिसमें पुण्य और पाप रूप कर्मों का सुख-दुःख रूप फल देखा जाता है वह लोक है। इस व्युत्पत्ति में लोक का अर्थ हुआ आत्मा/अथवा- जो देखता है, वह लोक है। जो 'लोके' अर्थात् जो देखे जाने वाले पदार्थों को देखता है, जानता है, प्राप्त करता है, वह लोक है। (रा.वा. १०-११)

जो अनन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है तथा जहाँ बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। (हरि.पु. २/११०)

जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार लोक कहलाता है। (रा.वा. ४/२४)

जीवादि छह पदार्थों का जो समूह है उसे लोक कहते हैं। (बा.अ. ३९)

छद्मस्थ अवस्था में मतिश्रुतज्ञान की अपेक्षा लोक देखा गया है, अवधिज्ञान के द्वारा मर्यादा रूप से आलोकित किया जाता है, मनःपर्यय ज्ञान की अपेक्षा कुछ उससे भी विशेष और केवलज्ञान की अपेक्षा सम्पूर्ण रूप से देखा गया इसलिए वह लोक कहा जाता है। (मू. ५४२ आ.)

१३. प्रश्न : लोक का उपर्युक्त लक्षण बनाने पर तो जीव के अलावा शेष द्रव्यों में अलोकत्व की सिद्धि है जिससे 'छह द्रव्यों का समूह लोक है' इस आर्षवचन के साथ विरोध आता है ?

उत्तर : यद्यपि उपर्युक्त दोनों प्रकार की (लोक की) व्युत्पत्तियों में जीव को ही लोक संज्ञा प्राप्त होती है, तथापि न तो अन्य द्रव्यों को अलोक कहा जाएगा और न 'छह द्रव्यों का समूह लोक है' इस सिद्धान्त का विरोध ही होगा क्योंकि रूढ़ि में क्रिया व्युत्पत्ति का निमित्त मात्र होती है, जैसे- 'गच्छतीति गौ' ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी न तो सभी चलने वाले गौ बन जाते हैं और न बैठी हुई गाय 'अगौ' गौत्व से रहित हो जाती है। इसी प्रकार 'लोकनात् लोकः' ऐसी लोक शब्द की व्युत्पत्ति करने पर भी धर्म-अधर्मादि द्रव्यों का लोकत्व नष्ट नहीं होता। अथवा -

'लोक्यते' देखा जाता है वह लोक है, ऐसी व्युत्पत्ति करने पर अप्रतिहत अनन्त केवलदर्शन वाले सर्वज्ञ के द्वारा जो देखा जाता है, वह लोक है, इससे धर्मादि द्रव्यों के भी लोकत्व सिद्ध होता है क्योंकि धर्मादिक द्रव्य भी सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा देखे जाते हैं। (रा.वा. १२-१३)

१४. प्रश्न : आत्मा के अलोकत्व का प्रसंग आता है क्योंकि आत्मा जिसको देखता है, वह लोक है ?

उत्तर : ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि आत्मा स्वयं अपना अवलोकन करता है अतः उसके लोकत्व सिद्ध है। जैसे सर्वज्ञ भगवान् बाह्य पदार्थों का अवलोकन करते हैं, वैसे अपने स्वरूप का भी लोकन करते हैं, यदि सर्वज्ञ अपने स्वरूप का अवलोकन नहीं करेंगे तो स्वस्वरूप का अवलोकन नहीं करने से वे सर्वज्ञ कैसे बनेंगे ? आत्मा को नहीं जानने वाले वे फिर बाह्य पदार्थों को भी कैसे जान सकते हैं। जैसे घटादि स्वस्वरूप को नहीं देखते इसलिए पर-पदार्थों को भी नहीं देख सकते, उन्हीं घटादि की तरह स्वस्वरूप को नहीं देखने वाले सर्वज्ञ या आत्मा पर-पदार्थों को भी नहीं देख सकते अतः उनके सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व का अभाव हो जाएगा। (रा.वा. १४)

१५. प्रश्न : आकाश कितने भागों में विभक्त है ?

उत्तर : आकाश दो भागों में विभक्त है-

(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश। (सर्वा.)

१६. प्रश्न : अलोकाकाश किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोक के बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है। (रा.वा. १८)

जिसके अपने प्रदेश भी अनन्त हैं तथा जो अन्य द्रव्यों से रहित है वह अलोकाकाश कहलाता है। यतश्च उसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं इसलिए वह अलोकाकाश इस नाम से प्रसिद्ध है। (हरि. पु. ४/१-२)

लोक के बाहर जो शुद्ध आकाश मात्र है उसे अलोक कहते हैं। (पं. का. ता. ८७)

१७. प्रश्न : इसे लोक क्यों कहते हैं ?

उत्तर : उस अलोकाकाश के मध्य में असंख्यात प्रदेशी तथा लोकाकाश से मिश्रित अनादि लोक स्थित है। काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तार से सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय यतश्च इसमें दिखाई देते हैं इसलिए यह लोक कहलाता है। (हरि. पु. ४/४-५)

१८. प्रश्न : लोक कितने प्रकार का है ?

उत्तर : देश के भेद से क्षेत्र (लोक) तीन प्रकार का है-

(१) ऊर्ध्व लोक (२) अधो लोक (३) मध्य लोक।

ऊर्ध्वलोक - मन्दराचल की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है।

अधोलोक - मन्दराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है।

मध्यलोक - मन्दराचल से परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है। (ध. ४/९)

१९. प्रश्न : अधोलोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : सात रज्जु सुमेरु पर्वत के नीचे (अधोलोक) है। चित्रा पृथ्वी के अधोभाग से लेकर द्वितीय पृथिवी के अन्त तक एक रज्जु समाप्त होता है। इसके आगे तृतीय पृथ्वी के अन्त तक द्वितीय रज्जु, चतुर्थ पृथ्वी के अन्त तक तृतीय रज्जु, पंचम पृथ्वी के अन्त तक चतुर्थ रज्जु, षष्ठ पृथ्वी के अन्त तक पंचम रज्जु, सप्तम पृथ्वी के अन्त तक षष्ठ रज्जु और लोक के अन्त तक सप्तम रज्जु समाप्त होता है। अर्थात् चित्रा पृथ्वी के नीचे छह रज्जु की लम्बाई तक सात पृथिवियाँ और उसके नीचे एक रज्जु के विस्तार में निगोद तथा वातवलय है। (हरि. पु. ४/११-१३)

२०. प्रश्न : मध्य लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : मध्य लोक की ऊँचाई एक लाख योजन प्रमाण है। (ति.प. १/१५१)

लोक में मेरु के तलभाग से उसकी चोटी पर्यन्त १,००,००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। (हरि.पु. ५ सर्ग के आधार से)

२१. प्रश्न : ऊर्ध्व लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी के ऊपर ऐशान स्वर्ग तक डेढ़ रज्जु, उसके आगे माहेन्द्र स्वर्ग के अन्त तक

फिर डेढ़ रज्जु फिर कापिष्ठ स्वर्ग तक एक रज्जु, तदनन्तर सहस्रार स्वर्ग तक एक रज्जु, उसके आगे आरण-अच्युत स्वर्ग तक एक रज्जु और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक के अन्त तक एक रज्जु इस प्रकार कुल सप्त रज्जु समाप्त होता है। (हरि. पु. ४/१४-१६)

ऊर्ध्व लोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू प्रमाण है। (ति.प. १/१५१)

२२. प्रश्न : यह लोक किसके द्वारा बनाया गया है ?

उत्तर : यह लोक अनादिनिधन है, किसी भी विशिष्ट पुरुष द्वारा न रचा गया है, न नष्ट होता है, न धारण किया जाता है और न रक्षा किया जाता है। (वृ. द्र. सं. २० टी.)

२३. प्रश्न : लोक सात राजू के घनप्रमाण (३४३ घनराजू) कैसे हो जाता है ?

उत्तर : जो सर्व आकाश के मध्य भाग में स्थित है, चौदह राजू आयाम वाला है, दोनों दिशाओं के अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशा के मूल, अर्धभाग, त्रि-चतुर्भाग और चरमभाग में यथाक्रम से सात, एक, पाँच और एक राजू विस्तार वाला है, तथा सर्वत्र सात राजू मोटा है, वृद्धि और हानि के द्वारा जिसके दोनों प्रान्त-भाग स्थित हैं, चौदह राजू लम्बी एक राजू के वर्ग प्रमाण मुख वाली लोकनाली जिसके गर्भ में है, ऐसा यह पिंडरूप किया गया लोक सात राजू के घन प्रमाण अर्थात् $7 \times 7 \times 7 = 343$ घन राजू है। (ध. ४/१९-२०)

२४. प्रश्न : लोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : अपने विस्तार की अपेक्षा अधोलोक नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-क्रम से प्रदेशों में हानि होते-होते मध्यम लोक के यहाँ एक रज्जु विस्तृत रह जाता है। इसके ऊपर प्रदेश वृद्धि होते-होते ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के समीप पाँच रज्जु प्रमाण है। तदनन्तर उसके आगे प्रदेशहानि होते-होते लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण विस्तृत रह जाता है। तीनों लोकों की लम्बाई चौदह रज्जु प्रमाण है। (हरि. पु. ४/९-१०)

लोक का विस्तार ३४३ घन राजू प्रमाण है। दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जगश्रेणी (सात राजू) प्रमाण है। पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि और मुख का व्यास सात, एक, पाँच और एक राजू है। (ति.पं. १/१४९)

नोट - अधोलोक का घनफल १९६ घन राजू एवं ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घन राजू प्रमाण है।

२५. प्रश्न : धर्म एवं अधर्म द्रव्य को न माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि धर्मास्तिकाय का सद्भाव नहीं माना जाय तो जीव और पुद्गल की गति के नियम का हेतु नहीं रहने से लोकाकाश का विभाग नहीं बन सकेगा तथा अधर्मास्तिकाय का सद्भाव नहीं माना

जाय तो स्थिति के नियम का हेतु नहीं रहने से जीव और पुद्गल की स्थिति का अभाव होता है जिससे लोकाकाश का विभाग नहीं बन सकता। (श्लो. ५/११५)

२६. प्रश्न : अखण्ड आकाश के लोकाकाश एवं अलोकाकाश, ये दो भेद किस कारण से होते हैं ?

उत्तर : धर्म एवं अधर्म द्रव्य के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से आकाश के दो विभाग होते हैं, अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्य जहाँ तक पाये जाते हैं वह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश और इससे बाहर अनन्त अलोकाकाश है। (सर्वा. ५४९)

धर्म और अधर्म द्रव्य का अवस्थान बताते हैं-

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३ ॥

धर्म-अधर्मयोः कृत्स्ने ।

(धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म का अवगाहन (कृत्स्ने) समग्र लोकाकाश में है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : लोकाकाश में अवधियमाण जीवादि पदार्थों के अवस्थान भेद की सम्भावना होने से विशेष प्रतिपत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १३) लोकाकाश में जितने द्रव्य बताये हैं उनके अवस्थान में भेद हो सकता है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य के अवस्थान विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५५०)

२. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार घर के एक कोने में घट रहता है वैसे लोकाकाश के एकदेश में धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं हैं अपितु तिलों में तेल के समान सर्व लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। इसलिए निरवशेष व्याप्ति का प्रदर्शन कराने के लिए सूत्र में कृत्स्न वचन का ग्रहण किया है। क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरन्तर सारे लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। (रा.वा.१)

३. प्रश्न : धर्म, अधर्म आदि के प्रदेश परस्पर अविरोध रूप से एक स्थान में कैसे रहते हैं ?

उत्तर : अमूर्तिक होने से धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों में परस्पर विरोध नहीं है। जब मूर्तिमान् जल, भस्म, रेत आदि पदार्थ बिना विरोध के एक स्थान में रह सकते हैं तब इन अमूर्तिक द्रव्यों की एकत्र स्थिति में तो कहना ही क्या। अर्थात्- जैसे पानी से भरे हुए घट में चीनी-रेत-भस्म-लोहे के काँटे आदि प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही परस्पर विरोध रहित जीवादि अनन्त पदार्थ लोकाकाश में रह जाते हैं। इसलिए अमूर्तिक होने से इन धर्मादि के प्रदेशों का परस्पर एक स्थान में रहने में कोई विरोध नहीं है।

इनका अनादि सम्बन्ध पारिणामिक स्वरूप होने से भी कोई विरोध नहीं है अर्थात् मूर्तिक पदार्थों

के समान धर्मादि पदार्थों का आकाशप्रदेशों के साथ आदि सम्बन्ध नहीं है, अपितु इनका पारिणामिक सम्बन्ध है अतः इनमें परस्पर प्रदेशों का अविरोध सिद्ध है। (रा.वा. २-३)

४. प्रश्न : यदि धर्म-अधर्म द्रव्यों को लोकाकाश के एक प्रदेश में ही मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि लोकाकाश के एक प्रदेश में ठहर रहे धर्म-अधर्म द्रव्य पूरे लोकाकाश में स्थित पदार्थों की गति और स्थिति करा देंगे तो एक कोने में बैठकर अलोकाकाश में भी पदार्थों का गमन एवं स्थिति करा देंगे। ऐसी दशा में अलोकाकाश में भी जीवादि पदार्थों का अस्तित्व मानना पड़ेगा तथा अलोकाकाश में जीवादि द्रव्यों का अस्तित्व मानने पर लोक-अलोक का विभाग नहीं बन सकता है अतः धर्म-अधर्म द्रव्यों को लोकाकाश के एकदेश में स्वीकार नहीं करना चाहिए, सम्पूर्ण लोकाकाश में ही स्वीकार करना चाहिए। (श्लो. ६/११५ के आधार से)

५. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्व लोक में व्याप्त क्यों कहा है ?

उत्तर : यद्यपि जीव-पुद्गलों में गति-स्थिति की आरम्भ शक्ति स्व की है तथापि धर्म-अधर्म द्रव्य सहायक होते हैं। क्योंकि धर्मद्रव्य के बिना जीव-पुद्गलों का गमन एवं अधर्म द्रव्य के बिना उनकी स्थिति नहीं होती और जीव एवं पुद्गल सारे लोकाकाश में हैं अतः उनके गमन और स्थिति में उपकारक कारण धर्म और अधर्म द्रव्य को भी सर्वगत होना चाहिए क्योंकि धर्मद्रव्य-अधर्मद्रव्य नहीं होंगे तो जीव और पुद्गलों की गति-स्थिति नहीं हो सकेगी, धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्वव्यापी कहा है। (रा.वा. ५/१७-१)

पुद्गल के अवगाह विशेष को बताते हैं-

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४ ॥

(पुद्गलानां) पुद्गलों का अवगाह (एकप्रदेशादिषु) एक प्रदेश आदि में (भाज्यः) विकल्प से होता है।

अर्थ - पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेश को आदि लेकर भजनीय है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों से विपरीत मूर्तिमान पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों के अवगाहन विशेष का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. १४)

२. प्रश्न : मूर्तिमान अनेक परमाणु एक प्रदेश में कैसे रहते हैं ?

उत्तर : प्रचय विशेष, सूक्ष्म परिणामन और आकाश की अवगाहन शक्ति के कारण एकत्र अवस्थान हो जाता है।

जैसे - एक कमरे में अविरोध रूप से अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है फिर भी उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता नष्ट नहीं होती है उसी प्रकार एक प्रदेश में अनन्त स्कन्ध अति सूक्ष्म परिणामन के कारण स्वभाव में साङ्कर्य हुए बिना ही रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। **अथवा** - द्रव्य का स्वभाव तर्कणा के योग्य नहीं है। क्योंकि द्रव्यों के स्वभाव प्रतिनियत होते हैं। उनके स्वभाव में ऐसा हो, ऐसा न हो, ऐसा तर्क नहीं चलता। जैसे- अग्नि का स्वभाव जलाने, पकाने आदि का है और तृण आदि का स्वभाव जलने, पकने आदि का है। इनके स्वभाव में कोई तर्क नहीं चलता, उसी प्रकार पुद्गलादि के मूर्तिमान द्रव्य होने पर भी अनेक स्कन्धों का एक आकाशप्रदेश में अवगाहन-स्वभाव के कारण अवस्थान होने में कोई विरोध नहीं है **अथवा**- आर्षप्रणीत आगम होने से सूक्ष्म निगोदिया जीवों के अवस्थान के समान एक प्रदेश में अनेक स्कन्ध रह जाते हैं। जैसे- सर्वज्ञ प्रणीत आगम के अनुसार एक निगोद शरीर में साधारण आहार, जीवन-मरण और श्वासोच्छ्वास होने से साधारण संज्ञा वाले अनन्त निगोदिया जीवों का अवस्थान बताया है, इसलिए साधारण यह अन्वर्थ संज्ञा आगम प्रमाण से जानी जाती है, उसी प्रकार आगम में यह भी बताया है कि यह सारा लोकाकाश सर्वतः अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकार्यों से ठसाठस भरा हुआ है। अतः आगम प्रमाण से इनका भी अवस्थान समझना चाहिए। (रा.वा. ३-६)

३. प्रश्न : आर्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा जिसके अर्थ का सार प्रकट किया गया है, गणधरों ने जिसके वचनों का अनुस्मरण करके जिसकी रचना की है अर्थात् अङ्गों में विभक्त किया है तथा आरातीय आचार्यों के शिष्य-प्रतिशिष्यों के प्रबन्ध से विच्छेद के बिना अविच्छिन्न रूप से जिसकी सन्तान-परम्परा चली आ रही है, उन निर्दोष ग्रन्थों को आर्ष कहते हैं। (रा.वा. ६)

४. प्रश्न : आकाश में पुद्गलों का अवगाह किस प्रकार होता है ?

उत्तर : एक परमाणु का एक ही आकाशप्रदेश में अवगाह है। दो पुद्गल परमाणु यदि परस्पर बद्ध हैं तो एक प्रदेश में, और यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशों में उनका अवगाह होता है। उसी प्रकार बद्ध तीन परमाणु की और अबद्ध तीन परमाणु की अवस्था में एक, दो एवं तीन प्रदेशों में उनका अवगाह होता है, इसी प्रकार बन्ध विशेष के कारण संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों में पुद्गलों के स्कन्ध रहते हैं ?

उत्तर : 'लोकाकाशेऽवगाहः' इस सूत्र में दिये गये 'अवगाह' शब्द की यहाँ अनुवृत्ति कर लेने पर जाना जाता है कि लोकाकाश के प्रदेशों पर पुद्गलों के स्कन्ध रहते हैं। (श्लो. ६/११६)

जीवों का अवगाह बताते हैं-

असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ॥१५ ॥

(जीवानां) जीवों का अवगाह (असंख्येयभागादिषु) असंख्येय भाग आदि में है।

अर्थ - जीवों का अवगाह आकाश के असंख्येय, एक भाग आदि में है।

१. प्रश्न : सूत्र में 'असंख्येयभागादिषु' क्यों कहा है ?

उत्तर : अवयव से विग्रह समुदाय-समास के लिए है। जैसे- असंख्येय भागों में से एक भाग असंख्येय भाग है, असंख्येय भाग है आदि में जिसके उसको असंख्येय भागादि कहते हैं। उन असंख्येय भागों में अवस्थान होने से 'असंख्येयभागादिषु' ऐसा कहा है। (रा.वा. १)

२. प्रश्न : किसके असंख्यातवें भाग में जीव रहता है ?

उत्तर : लोकाकाश का प्रकरण होने से लोकाकाश का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। 'लोकाकाशोऽवगाहः' इस सूत्र से लोक के असंख्यातवें भाग में जीव रहता है। (रा.वा. २)

३. प्रश्न : जीवों का अवगाह कितने प्रदेशों में होता है ?

उत्तर : लोकाकाश असंख्येय प्रदेशी है तथा उसमें असंख्यात का भाग देने पर लोक का असंख्यातवाँ भाग आता है। उसमें एक जीव रहता है तथा दो, तीन आदि असंख्येय भागों में तथा सम्पूर्ण लोक में जीवों का अवगाहन है। नाना जीवों का अवगाह क्षेत्र तो सर्वलोक है। (रा.वा. ३)

४. प्रश्न : सभी जीव लोक के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग में रहते हैं तो उनकी अवगाहना में कोई विशेषताएँ नहीं होगी ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सभी जीव लोक के असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग में रहते हैं, असंख्यात के भी असंख्यात विकल्प होने से अजघन्योत्कृष्ट असंख्यात के भी असंख्यात विकल्प हैं अर्थात् एक हजार से लेकर निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे तक हजार के बहुत विकल्प हैं, उसी प्रकार असंख्यात के असंख्यात भेद होते हैं अतः जीवों की अवगाहना में भी भेद सिद्ध हो जाता है। (रा.वा. ४)

५. प्रश्न : एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है तो अनन्तानन्त जीव लोकाकाश में कैसे समा सकते हैं ?

उत्तर : ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें बादर जीव सप्रतिघात (दूसरे से रुकने वाले और दूसरों को रोकने वाले) शरीर से युक्त हैं। परन्तु सूक्ष्म जीवों का सूक्ष्म परिणमन होने के कारण सशरीरी होने पर भी न तो बादर जीवों के द्वारा उनका प्रतिघात होता है और न वे एक-दूसरे का व्याघात करते हैं अतः अप्रतिघात शरीर वाले हैं इसलिए जहाँ एक सूक्ष्म निगोदिया जीव रहता है वहीं अनन्तानन्त साधारण सूक्ष्म शरीर वाले जीव रहते हैं। बादर मनुष्य आदि के

शरीर में भी संस्वेदज आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं अतः प्रति शरीर में बहुत जीवों का अवस्थान होने से अवगाह (थोड़े प्रदेशों में बहुत से जीवों के रहने) में विरोध नहीं है। (रा.वा. ५)

६. प्रश्न : सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सशरीरी आत्मा अप्रतिघाती है यह बात तो अनुभव सिद्ध है, क्योंकि बालाग्र कोटि मात्र छिद्र रहित, घनबहल लोह से निर्मित भित्तिराल वाले वज्रमय कपाट से युक्त और बाहर चारों तरफ जिसमें वज्र का लेप किया गया है ऐसे मकान से मृतक देवदत्त का जीव मूर्तिमान् ज्ञानावरण आदि कर्म, तैजस-कार्मण शरीर का सम्बन्ध होने पर भी घर को बिना भेदे ही निकल जाता है और उस कमरे में कहीं भी छेद या दरार नहीं पड़ती, उसी प्रकार सूक्ष्म निगोदिया जीवों का शरीर भी अप्रतिघाती समझना चाहिए। (रा.वा. ५)

जीव के संकोच-विस्तार को कहते हैं-

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६ ॥

(प्रदीपवत्) दीपक के समान (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां) प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने से (जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रह जाता है)।

अर्थ - दीपक के समान आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने के कारण जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रह जाता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि एक जीव के लोकाकाश तुल्य असंख्यात प्रदेश हैं तो उसका लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में अवस्थान कैसे हो सकता है ? उसे भी सारे लोक में व्याप्त होकर रहना चाहिए, ऐसी आशांका का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १६)

२. प्रश्न : अमूर्तिक जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार किस कारण होता है ?

उत्तर : अमूर्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि सम्बन्ध के प्रति एकत्व होने से कथञ्चित् मूर्तता को धारण किये हुए है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश हैं, फिर भी जब यह कार्मण शरीर के कारण ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर में रहता है तब इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकोचन होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्मण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तैल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : जीव लोक के असंख्येयादि प्रदेशों में किस प्रकार रहता है ?

उत्तर : संकोच-विस्तार के कारण जीव दीपक के समान लोक के असंख्येय आदि भागों में रहता है। जैसे- निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए दीपक का प्रकाश बहुप्रदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा,

मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सिकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहाँ रखा गया है उसी प्रमाण होता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भाग आदि में परिछिन्न वृत्ति जानना चाहिए। (रा.वा. २)

४. प्रश्न : जीव में संकोच-विस्तार हो सकता है अतः वह पुद्गल के समान एक प्रदेश में क्यों नहीं रह सकता है ?

उत्तर : संसारी आत्मा का संकोच-विस्तार शरीर-प्राप्ति के अनुसार होता है और सबसे छोटा शरीर भी घनाङ्गुल के असंख्येय भाग प्रमाण है, एक प्रदेश का शरीर नहीं हो सकता है अतः आत्मा का पुद्गल के समान एक प्रदेश आदि में अवगाह नहीं हो सकता है। (रा.वा. ८)

५. प्रश्न : संसारी आत्मा के शरीर होता है अतः एक प्रदेश में अवगाहन नहीं है, परन्तु मुक्तात्मा के तो शरीर नहीं है अतः उसका तो एक प्रदेश में अवगाहन होना चाहिए?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि यद्यपि मुक्तात्माओं के वर्तमान शरीर नहीं है, तथापि जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होता है, उस शरीर से कुछ कम आकार में आत्मप्रदेशों की रचना रह जाती है न तो उस अन्तिम शरीर के कुछ कम आकार से घटती है और न बढ़ती है क्योंकि मुक्त अवस्था में संहार और विसर्पण का कारण कर्म नहीं है। अतः मुक्तात्माओं की पुद्गल की तरह एक आदि प्रदेशों में वृत्ति नहीं मानी जा सकती है। (रा.वा. ९)

६. प्रश्न : दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने से सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिए ?

उत्तर : दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है। किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। जीव के प्रदेश पहले लोकप्रमाण फैले हों फिर आवरण हुआ, ऐसा भी नहीं है क्योंकि जीव के प्रदेश तो अनादि काल से सन्तान रूप चले आये शरीर के आवरण सहित ही रहते हैं। इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार नहीं होता तथा विस्तार व संहार शरीर नामकर्म के आधीन ही है, जीव का स्वभाव नहीं है; इस कारण जीव के शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता। इस विषय में उदाहरण देते हैं-

जैसे- किसी मनुष्य की मुट्टी में चार हाथ लम्बा वस्त्र बँधा है। अब वह वस्त्र मुट्टी खोल देने पर पुरुष के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता, जैसा उस पुरुष ने छोड़ा, वैसा ही रहता है अथवा - गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच और विस्तार को प्राप्त होता है किन्तु जब सूख जाता है तब

जल का अभाव होने से संकोच व विस्तार को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्त जीव में (प्रदेशों का) भी पुरुष स्थानभूत अथवा - जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में संकोच-विस्तार नहीं होता। (वृ.द्र.सं. १४ टी.)

७. प्रश्न : आत्मा को सर्वव्यापी मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि आत्मा व्यापक है तो इसे सर्वत्र सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः जीव अपने शरीर के बराबर है। (का.अ. १७७)

यदि आत्मा सर्वगत होता तो उसके क्रिया का अभाव हो जाने के कारण पुण्य व पाप के ही कर्तृत्व का अभाव हो जाता और पुण्य व पाप के अभाव से संसार व मोक्ष इन दोनों की भी कोई योजना न बन सकती, क्योंकि पुण्य-पाप पूर्वक ही संसार होता है और उनके अभाव से मोक्ष। (रा.वा. १/१०)

८. प्रश्न : संहार-विसर्प स्वभाव वाला होने से आत्मा के भी दीपक के समान अनित्यत्व का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : संहार-विसर्प स्वभाव वाला होने से आत्मा के भी अनित्यत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैनों को यह इष्ट है कि आत्मा कर्मण-शरीरजन्य प्रदेश-संहार और विसर्पण रूप पर्याय की दृष्टि से अनित्य है ही। अथवा-

यह हमको इष्ट भी है कि संकोच-विस्तार स्वभाव वाला भी दीपक रूपी द्रव्य सामान्य की दृष्टि से नित्य है। उसी प्रकार आत्मा भी सामान्य दृष्टि से नित्य है, अतः दीपक का दृष्टान्त बाधक नहीं है। (रा.वा. ३)

९. प्रश्न : प्रदीपादि के समान प्रदेशों का संकोच-विस्तार होने से संसारी आत्मा के घटादि के समान छेदन-भेदन आदि के द्वारा प्रदेशों के विशरण होने का प्रसंग आयेगा और आत्मप्रदेशों का विशरण होने से आत्मशून्यता का भी प्रसङ्ग आयेगा ?

उत्तर : यह शंका समुचित नहीं है क्योंकि बन्ध की दृष्टि से कार्माणादि शरीर के साथ आत्मा का एकत्व होने पर भी लक्षणभेद से भिन्नता को प्राप्त आत्मा अपने निजी अमूर्त स्वभाव को नहीं छोड़ता अतः घटादि के समान आत्मप्रदेशों का विशरण नहीं है। अथवा - अनेकान्त होने से आत्मप्रदेशों का विशरण नहीं होता। जो एकान्त से आत्मा को संकोच-विस्तार वाली और सावयवी मानते हैं, उनके प्रति यह उपालम्भ दे सकते हैं। अथवा -

अणु के समान आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार अकारणपूर्वक है। जिसके अवयव कारणों से उत्पन्न होते हैं उसके अवयवों का विशरण होता है क्योंकि 'अवयूयन्ते' विशरण होते हैं उन्हें अवयव कहते हैं, जैसे कि अनेक तन्तुओं के संघात से उत्पन्न हुए कपड़े के तन्तु आदि का विशरण होने पर विनाश हो जाता है परन्तु आत्मा के प्रदेश अन्य द्रव्य के संघात से उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि वे अकारण पूर्वक हैं

अर्थात् आत्मप्रदेशों का संघात बिना कारण है। जिस प्रकार अणु के प्रदेश अन्य द्रव्यसंघात पूर्वक नहीं हैं अतः वह अवयव विश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नहीं होता है किन्तु अन्य परमाणु के संयोग से उनमें अनित्यता आती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेश अन्य द्रव्यसंघात पूर्वक नहीं हैं अतः प्रदेशवान् होने से सावयव होकर भी आत्मा अवयवविश्लेष से अनित्यता को प्राप्त नहीं होता, केवल गति आदि पर्याय की दृष्टि से ही अनित्य हो सकता है। (रा.वा. ४-६)

१०. प्रश्न : आत्मा में संकोच-विस्तार किस अपेक्षा से है ?

उत्तर : अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्य उपयोग आदि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से न तो प्रदेशों का संहार होता है और न विस्तार ही होता है और न द्रव्य दृष्टि से आत्मा में सावयवपना ही है। हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म-बादर शरीर को उत्पन्न करने वाले निर्माण नामकर्म के उदय रूप पर्याय की विवक्षा से कथञ्चित् आत्मा संकोच-विस्तार वाला भी है और इसी प्रकार अनादि कर्मबन्ध रूपी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथञ्चित् आत्मा सावयवी भी है। (रा.वा. ५)

११. प्रश्न : आकाश के समान अमूर्त स्वभावी आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार कैसे सम्भव है ?

उत्तर : ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अनुमान और आगम प्रमाण से आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। (श्लो. ६/१२३)

१२. प्रश्न : आत्मा का संकोच-विस्तार किस अनुमान प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : बालक के छोटे शरीर में व्याप्त आत्मा कुछ वर्षों पश्चात् कुमार अवस्था में बड़े शरीर में व्याप्त हुआ प्रतीत होता है, स्थूल शरीर में व्याप्त आत्मा का रुग्ण या वृद्ध अवस्था में कृश शरीर हो जाने पर व्यापक रूप से संवेदन होता हुआ प्रतीत होता है। तथा शिशु अवस्था का और कुमार अवस्था का जीव भिन्न-भिन्न भी नहीं है क्योंकि जो मैं बालक था वही मैं अब युवा हूँ; मेरा मोटा शरीर अब कृश हो गया है ऐसा एकत्व का ज्ञान कराने वाला प्रत्यभिज्ञान भी हो रहा है, वह भ्रान्त भी नहीं है क्योंकि बाधक प्रमाणों का अभाव है। अतः अनुमान प्रमाण से आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। (श्लो. ६/१२३)

१३. प्रश्न : आत्मा का संकोच-विस्तार किस आगम से सिद्ध है ?

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान से प्रतिपादित सिद्धान्त में संसारी जीवों के प्रदेशों में संकोच-विस्तार का कथन किया गया है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाने गये अर्थ का प्रतिपादक आगम अप्रामाणिक नहीं हो सकता है क्योंकि बाधक प्रमाणों के अभाव में उसका अच्छा निर्णय हो चुका है। अतः आगम प्रमाण से भी आत्म-प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। (श्लो. ६/१२३)

१४. प्रश्न : देश, संस्थान आदि की अपेक्षा परस्पर अभेद होने से धर्मादि द्रव्यों को एक ही मानना चाहिए ?

उत्तर : धर्मादि द्रव्यों के एकत्व के कथन से उनमें भिन्नता सिद्ध है अतः वे एक नहीं हैं। जिस कारण से धर्मादि द्रव्यों के देश संस्थानादि में अभिन्नता होने से एकत्व (एकपने) का प्रश्न किया है उसी कारण उनकी भिन्नता स्वयंसिद्ध है। जब वे भिन्न-भिन्न हैं तभी तो उनमें अमुक-अमुक दृष्टियों से एकत्व की सम्भावना की गई है, नानात्व (अनेकपने) के नहीं होने पर एकत्व की सिद्धि भी नहीं होती, क्योंकि एक के अविशेषता (एकत्व) नहीं होती अर्थात् एक होने पर संस्थानादि के एकत्व का प्रश्न भी नहीं उठता। अथवा- जैसे-रूप-रसादि का देश-काल आदि एकत्व होने पर भी नानात्व है, वैसे ही धर्मादि के भी देश-कालादि की अपेक्षा एकत्व होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा नानात्व है। (रा.वा. ११)

१५. प्रश्न : धर्मादि द्रव्यों के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश होने के कारण संकर होने से अभेद प्राप्त होगा ?

उत्तर : नहीं ! क्योंकि परस्पर अत्यन्त संश्लेष सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते इसलिए उनमें अभेद नहीं होता। कहा भी है-

छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। (पं.का. ७)

द्रव्यकृत उपकार

धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

गति-स्थिति-उपग्रहौ धर्म-अधर्मयोः- उपकारः ॥

(गतिस्थित्युपग्रहौ) गति और स्थिति रूप सहायता करना (धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्य का (उपकारः) उपकार है।

अर्थ - गति और स्थिति क्रमशः धर्म और अधर्म कृत उपकार है।

गति - द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणाम गति है।

स्थिति - द्रव्य के स्वस्थान में स्थिति का हेतु स्थिति है।

उपग्रह - अनुग्रह करना उपग्रह है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिस प्रकार रूप-रसादि के तुल्यदेशत्व आदि के होने पर भी अपने-अपने चाक्षुषत्व आदि

विशिष्ट लक्षण से युक्त होने से उन रूप आदि में नानात्व है, परन्तु उसी प्रकार धर्मादि के किञ्चित् लक्षणभेद नहीं कहा है इसलिए इनमें नानात्व नहीं है। धर्मादि के भिन्न लक्षण क्या हैं ? ऐसा पूछने पर यह उत्तर सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. १७)

सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट हैं, एक-दूसरे को अवकाश देते हैं और सदा मिलकर रह रहे हैं तो भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्यों का स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५५७-५८)

२. प्रश्न : गति एवं स्थिति किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणाम गति है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से परिणामन करने वाले द्रव्यों को देशान्तर में प्राप्त कराने वाली पर्याय गति कहलाती है। (रा.वा. १)

एक स्थान से दूसरे स्थान के प्राप्त कराने में जो कारण है उसे गति कहते हैं। (सर्वा. ५५९)

गति से विपरीत स्थिति है। द्रव्य को स्वस्थान से अप्रच्युति का कारण गति की निर्वृत्ति रूप स्थिति को जानना चाहिए। (रा.वा. २)

३. प्रश्न : जीव-पुद्गल स्वयं गति करने में समर्थ हैं अतः धर्म द्रव्य से क्या प्रयोजन ?

उत्तर : जिस प्रकार सिद्ध भगवान् अमूर्त्त होने पर भी निष्क्रिय और अप्रेरक होने पर भी 'मैं सिद्ध समान अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ' इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्ध-भक्ति-युक्त ऐसे जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार निष्क्रिय, अमूर्त्त और अप्रेरक होने पर भी धर्मद्रव्य अपने उपादान कारण से गति करते हुए जीव और पुद्गलों को गति में सहकारी कारण है- जैसे मछली आदि को जल आदि के गमन में सहायक होने के लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त की भाँति; ऐसा अभिप्राय है। (वृ. द्र. सं. १७ टी.)

४. प्रश्न : जीव-पुद्गल स्वयं स्थिति में समर्थ हैं अतः अधर्म द्रव्य से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : स्वसंवेदन से उत्पन्न सुखामृत रूप परम स्वास्थ्य यद्यपि निश्चय नय से स्वरूप में स्थिति का कारण है तथा "मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, मैं अनन्त-ज्ञानादि गुणों का धारक हूँ, मैं देहप्रमाण, नित्य, असंख्य प्रदेशी और अमूर्त्त हूँ।" इस गाथा में कथित सिद्ध भक्ति रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जिस प्रकार भव्यों को सहकारी कारण होते हैं उसी प्रकार अपने उपादानकारण से स्थिति करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्मद्रव्य स्थिति का सहकारी कारण है, लोकव्यवहार से छाया अथवा पृथ्वी की भाँति (वृ.द्र.सं. टी. १८)। जैसे पृथिवी स्वयं पहले से ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदि को ठहरने में बाहरी कारण है, वैसे स्वयं पहले से ठहरा हुआ अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके ठहरने में सहकारी कारण होता है। (पं. का. ता. ८६)

५. प्रश्न : उपग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपग्रह का अर्थ अनुग्रह है। द्रव्यों की उपादान शक्ति के आविर्भाव में जो कारण बनता है, सहायक बनता है उसको उपग्रह-अनुग्रह कहते हैं। (रा.वा. ३) उपग्रह शब्द उपकार का पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति उपग्रह्यते है। (सर्वा. ५५९)

६. प्रश्न : धर्म-अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त हैं या प्रेरक ?

उत्तर : धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के हेतु होने पर भी अत्यन्त उदासीन हैं। जिस प्रकार गति-परिणत पवन ध्वजाओं के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है, उस प्रकार धर्मद्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपरिणाम को प्राप्त नहीं होता, तो उसे सहकारी की भाँति पर के गतिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा ? किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियों को (गमन में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक (निमित्त) है।

जिस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति परिणत अश्वसवार के स्थिति परिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है उस प्रकार अधर्म द्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थिति परिणाम को ही प्राप्त नहीं होता, तो फिर उसे सहस्थायी की भाँति पर के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्तृत्व कहाँ से होगा, किन्तु जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रय रूप कारण की भाँति गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक है। (पं.का.ता. ८८)

७. प्रश्न : सूत्र में 'उपग्रहौ' द्विवचन का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'उपग्रहौ' यह द्विवचन यथासंख्य की प्रतिपत्ति के लिए है। यदि उपग्रह एक वचन होता तो जैसे एक ही पृथ्वी, अश्व आदि की गति और स्थिति इन दोनों में उपकारक होती है, उसी प्रकार एक धर्मद्रव्य ही गति और स्थिति इन दोनों कार्यों को करता है, इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी दोनों कार्यों को करता है, इस प्रकार का अर्थ निकल जाता है। इसलिए यथाक्रम के लिए द्विवचन का ग्रहण किया है। (रा.वा. १४)

८. प्रश्न : यदि ऐसा है तो 'उपग्रहौ' और 'धर्माधर्मयोः' दोनों में से एक व्यर्थ होगा ?

उत्तर : यदि यथाक्रम का ज्ञान कराने के लिए 'उपग्रहौ' यह द्विवचन है तो उपग्रहौ और 'धर्माधर्मयोः' दोनों में से एक व्यर्थ होगा, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि एक ही कार्य अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ देखा जाता है, जैसे- एक घट की उत्पत्ति में चक्र, चीवर, कुलाल आदि अनेक सहायक कारण देखे जाते हैं, वैसे जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति में अनेक कारण देखे जाते हैं अतः इस अनिष्ट प्रसंग का निवारण करने के लिए 'उपग्रहौ' ऐसा द्विवचन दिया गया है। (रा.वा. १४)

९. प्रश्न : उपकार और उपग्रह दोनों एकार्थवाची हैं अतः सूत्र में 'उपग्रह' वचन व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यथासंख्य की निवृत्ति के लिए सूत्र में 'उपग्रह' वचन दिया गया है अतः उपग्रह शब्द निरर्थक नहीं है। उपग्रह न कहकर 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा कहने पर आत्मा के गति परिणाम में निमित्त होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होना अधर्म द्रव्य का उपकार है दूसरों का नहीं अर्थात् पुद्गल के गमन में धर्म द्रव्य उपकारक नहीं और जीव की स्थिति में अधर्म द्रव्य उपकारक नहीं, ऐसी अनिष्ट यथाक्रम प्रतीति की निवृत्ति के लिए तथा स्पष्ट प्रतीति के लिए 'उपग्रह' शब्द दिया है। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि व्याख्यान (प्रकरण) से इष्ट का संप्रत्यय हो जावेगा। अतः 'उपग्रह' वचन व्यर्थ है क्योंकि व्याख्यान से विशेष प्रतिपत्ति करने से अर्थ में गौरव (क्लिष्टता) आता है, ज्ञान को विशेष परिश्रम करना पड़ता है इसलिए सरलता से अर्थ का बोध कराने के लिए 'उपग्रह' वचन कहा है। (रा.वा. १८-१९)

१०. प्रश्न : यदि इन्हें प्रेरक (मुख्य) निमित्त माना जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर : वास्तव में धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता, अधर्म द्रव्य कभी स्थिति हेतु नहीं होता, क्योंकि वे पर को गति-स्थिति के यदि मुख्य हेतु हों तो जिन्हें गति हो उन्हें गति ही रहना चाहिए, स्थिति नहीं होना चाहिए, और जिन्हें स्थिति हो उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एक को ही गति और स्थिति देखने में आती है, इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे गति स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहार नय स्थापित उदासीन हेतु हैं। (पं. का. स. ८९)

११. प्रश्न : आकाश को ही गति एवं स्थिति में कारण मानना चाहिए क्योंकि उसमें सर्वगतत्व एवं सुषिरता गुण है ?

उत्तर : आकाश को गति और स्थिति का कारण मानना योग्य नहीं है क्योंकि आकाश धर्म-अधर्म, काल, आत्मा और पुद्गल द्रव्यों का आधार है। जैसे- नगर के अन्तर्गत घरों का आधार नगर है, वैसे ही धर्म-अधर्म काल, आत्मा और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों का आधार आकाश है। जब आकाश का एक 'अवगाहन' उपकार निश्चित है तब उस पर अन्य द्रव्य के धर्म का आरोप करना उपयुक्त नहीं है। यदि अन्य का धर्म किसी अन्य द्रव्य में आरोपित किया जायेगा तो जल की द्रवता और अग्नि की उष्णता पृथ्वी के भी माननी चाहिए।

अथवा - आकाश का अस्तित्व होने पर भी जैसे मछली का गमन पृथ्वी पर नहीं होता, जल के उपग्रह से ही होता है उसी प्रकार गति और स्थिति परिणत जीव-पुद्गलों की गति और स्थिति का कारण धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य है, आकाश नहीं। (रा.वा. २०-२१)

१२. प्रश्न : आकाश को गति-स्थिति का कारण मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर : यदि आकाश के निमित्त से जीव-पुद्गलों का गमन एवं स्थान होगा तो अलोकाकाश में

भी जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति होनी चाहिए। यदि अलोकाकाश में जीव और पुद्गलों का गमन एवं स्थिति होगी तो लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जायेगा। लोक से भिन्न अलोक तो होना ही चाहिए, क्योंकि 'न ब्राह्मण अब्राह्मण' की तरह नञ्युक्त पद सार्थक देखा जाता है। (रा.वा. २१) जिस प्रकार आकाश अवगाह वालों को अवगाह हेतु है उसी प्रकार गति और स्थिति का हेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवन्त बहिरंग-अन्तरंग साधन रूप सामग्री होने पर भी क्यों आकाश में स्थिर हों ? जिस कारण सिद्ध भगवन्त गमन करके लोक के ऊपर स्थित होते हैं, उससे गति-स्थिति हेतुत्व आकाश में नहीं है ऐसा निश्चय करना, लोक और अलोक का विभाग करने वाले धर्म तथा अधर्म को ही गति तथा स्थिति का हेतु मानना। यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जाए तो आकाश का सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति की कोई सीमा न रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोक का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि पाने से लोक का अन्त ही टूट जाएगा। इसलिए आकाश में गति-स्थिति का हेतु नहीं है। (पं.का. ९२-९४)

१३. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य का गधे के सींग के समान अभाव है क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती है ?

उत्तर : ऐसा कहने वालों के स्वतीर्थकर आदि के अभाव का प्रसंग आयेगा। जो उपलब्ध नहीं है वह नहीं है, ऐसी हमारी प्रतिज्ञा नहीं है क्योंकि जो ऐसा मानते हैं कि जो उपलब्ध नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है, जैसे- गधे के सींग अनुपलब्ध हैं वे असत् हैं। इस प्रकार मानने से अपने तीर्थकर, पुण्य-पाप, परलोकादि के नाश का प्रसंग आयेगा। परन्तु यह किसी को इष्ट नहीं है अतः अनुपलब्ध हेतु व्यभिचारी है। **अथवा** - अनुपलब्धि असिद्ध भी है, क्योंकि भगवान् अरिहंत सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से, उन सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्रणीत आगम से, आगम अनुसार कार्य की उपलब्धि से तथा अनुमान ज्ञान के द्वारा गति और स्थिति में कारणभूत धर्म और अधर्म द्रव्य की उपलब्धि होती है अतः अनुपलब्ध होने से धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं है, यह हेतु जैनों के प्रति असिद्ध है और असिद्ध हेतु साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता है। (रा.वा. २८-२९)

१४. प्रश्न : अभवात्मक धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : कार्य के अनेक उपकरणों से साध्यत्व होने से धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है, जैसे- घटकार्य पर्याय प्राप्ति प्रति गृहीत आभ्यन्तर सामर्थ्य वाला भी मिट्टी का पिण्ड बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, चीवर, पानी, काल, आकाश आदि अनेक कारणों से अपेक्षित होकर ही घट पर्याय से उत्पन्न होता है। बाह्य कुम्भकार आदि साधनों के सन्निधान के बिना अकेले मृत्पिंड से घड़ा उत्पन्न हो नहीं सकता, स्वयं उपादान के सामर्थ्य से बाह्य निमित्त कारणों के बिना मिट्टी घट रूप होने में समर्थ नहीं है, उसीप्रकार गति-स्थिति पर्याय की प्राप्ति के प्रति सन्मुख पक्षी आदि द्रव्य बाह्य अनेक कारणों के सन्निधान के बिना गति-स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् पक्षी आदि की गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणों की अपेक्षा

करती है। इनमें सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण धर्म और अधर्म द्रव्य होते हैं अतः धर्म और अधर्म द्रव्य की प्रसिद्धि है। इसलिए अनुमान से विरोध नहीं है। (रा.वा. ३१) अथवा - तुम्हारे जीवित-मरणादि के समान धर्म-अधर्म द्रव्य की सिद्धि है, अतीन्द्रिय होने से मनुष्य मात्र के अप्रत्यक्ष और अतिशयज्ञानी सर्वज्ञ के द्वारा उपलम्भमान स्वरूप वाले तुम्हारे जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदि का जैसे अस्तित्व सिद्ध है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रमाण के गोचरातीत और परम ऋषि सर्वज्ञ ज्ञान के द्वारा दृष्ट धर्म-अधर्म द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करने में क्या विरोध है। (रा.वा. ३५)

१५. प्रश्न : रूपादि रहित अमूर्तिक धर्म-अधर्म द्रव्य में गति हेतुत्व और स्थिति हेतुत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अमूर्तत्व होने से धर्म और अधर्म द्रव्य में गति हेतुत्व और स्थिति हेतुत्व का अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमूर्तिक के कार्यहेतुत्व नहीं होने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता, जिससे अमूर्त होने से धर्म और अधर्म द्रव्य के गति-स्थिति हेतुत्व का निराकरण किया जाय। आकाश आदि अमूर्त पदार्थ कार्य करते देखे जाते हैं, जैसे- अमूर्त होकर भी आकाश सभी द्रव्यों को अवगाहन देने रूप कार्य को उत्पन्न करता है। अमूर्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान्-अहंकार आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है और अमूर्त भी विज्ञान रूप की उत्पत्ति का कारण होता है, 'नाम रूप विज्ञान निमित्तक है। किन्हीं का मत है कि अपूर्व नामक धर्मक्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग-साधनों में निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए। (रा.वा. ४०-४१)

१६. प्रश्न : अदृष्ट (पुण्य-पाप) से जीव-पुद्गलों की गति-स्थिति हो जायेगी, धर्म-अधर्म द्रव्य मानने से कोई प्रयोजन नहीं है ?

उत्तर : अचेतन होने से पुद्गल द्रव्यों में अदृष्ट (पुण्य-पाप) नहीं पाया जाता है, अतः पुण्य-पाप रूप कारणों का अभाव होने से उन पुद्गलों में पुण्य-पापकृत गति-स्थिति भी नहीं हो सकेगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए कि जो घटादि पुद्गल जिस आत्मा का उपकार करेंगे, उस आत्मा के अदृष्ट से पुद्गलों में गति और स्थिति हो जाएगी, क्योंकि अन्य द्रव्य का धर्म अन्य द्रव्य में क्रिया नहीं करा सकता है। जो अपने आश्रय में क्रिया का आरम्भ नहीं कर सकता वह अन्यत्र क्रिया का हेतु नहीं हो सकता, इसका विशेष वर्णन पूर्व (इसी सूत्र के प्रश्न आठवें) में किया जा चुका है। अथवा -

पुण्य-पाप के अभाव में भी गति और स्थिति देखी जाती है। पुण्य-पाप कर्म से रहित सिद्धों के भी गति और स्थिति देखी जाती है, मानी गयी है। कर्म रहित जीव ऊर्ध्वगमन करके एक समय में लोकाकाश तक जाकर स्थिर हो जाते हैं। अतः गति और स्थिति पुण्य-पाप हेतुक नहीं हैं। (रा.वा. ३७-३९)

१७. प्रश्न : धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य पृथ्वी, जल आदि भी करने में समर्थ है अतः धर्म-अधर्म द्रव्य का मानना ठीक नहीं है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के साधारण कारण हैं, यह विशेष रूप से कहा है तथा एक कार्य अनेक कारणों से होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्य का मानना ठीक है। (सर्वा. ५५९)

आकाश का उपकार बताते हैं-

आकाशस्यावगाहः ॥१८ ॥

आकाशस्य-अवगाहः ।

(अवगाहः) अवगाह देना (आकाशस्य) आकाश द्रव्य का उपकार है।

अर्थ - सब द्रव्यों को अवगाह देना आकाश द्रव्य का उपकार है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति के उपकार से जाना जाता है तो धर्म और अधर्म द्रव्य के बाद उद्दिष्ट (कथित) अतीन्द्रिय आकाश के अधिगम में क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. १८)

२. प्रश्न : सभी द्रव्य अपने-अपने में रहते हैं अतः आकाश द्रव्यों को अवगाह देना है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : सहज शुद्ध सुखामृतरस के आस्वाद वाले परम समरसी भाव से भरितावस्थ, केवलज्ञानादि अनन्तगुण के आधार रूप, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात निज शुद्ध प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय से सिद्ध भगवन्त रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से 'सिद्ध भगवान मोक्षशिला पर रहते हैं' ऐसा कहा जाता है। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेश में परमध्यान द्वारा आत्मा स्थिर होकर कर्मरहित होता है, वहाँ ही होता है, अन्यत्र नहीं; ध्यान करने के स्थान में कर्मपुद्गलों को छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गति करके मुक्तात्मार्यें लोकाग्र में स्थिर होती हैं अतः उपचार से लोक के अग्रभाग को भी मोक्ष कहते हैं। तीर्थ स्वरूप पुरुष के द्वारा सेवित भूमि-जलादि रूप स्थान भी उपचार से तीर्थ हैं, इस प्रकार सरलता से बोध होने के लिए कहा जाता है। उसी प्रकार सर्व द्रव्य यद्यपि निश्चयनय से अपने प्रदेशों में रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में रहते हैं। (वृ. द्र.सं. टी. १९)

३. प्रश्न : अनादि सम्बन्ध वाले आकाश द्रव्य और धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध युतसिद्ध है या अयुतसिद्ध ?

उत्तर : आकाश द्रव्य और धर्म-अधर्म द्रव्य का सम्बन्ध कथंचित् युतसिद्ध है और कथंचित् अयुतसिद्ध है। जैसे- पर्यायार्थिक नय की गौणता एवं द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता होने पर व्यय-उत्पाद नहीं होता है अतः इनका स्यात् अयुतसिद्ध और अनादि सम्बन्ध है और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता करके वर्णन किया जाता है तो धर्म-अधर्म द्रव्य में उत्पाद-व्यय होता है अतः

इनका अनादि और अयुतसिद्ध सम्बन्ध नहीं है अर्थात् सादि और युतसिद्ध है। इसी प्रकार सर्व पदार्थों में लगा लेना चाहिए। (रा.वा. ५)

४. प्रश्न : 'जिस प्रकार जल में अवगाहन करता है', इसमें जल और हंस का अनादि-सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही आकाश में धर्म और अधर्म रहते हैं, अतः धर्म और अधर्म का अनादि सम्बन्ध नहीं है ?

उत्तर : धर्म और अधर्म आकाश में रहते हैं, यह औपचारिक प्रयोग है। 'यह हंस जल में अवगाहन करता है' इसकी तरह मुख्य प्रयोग नहीं है क्योंकि सारे लोकाकाश में धर्म और अधर्म की व्याप्ति का सद्भाव होने से इनमें क्रिया का अभाव है। मुख्य आधार-आधेय भाव में ही पौर्वापर्य होता है और यह पहले है, इस प्रकार सादित्व होता है। जैसे- गमन क्रिया के अभाव में भी सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण आकाश को सर्वगत कहते हैं, उसी प्रकार मुख्य अवगाह क्रिया का अभाव होने पर भी लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्ति होने के कारण धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : आकाश द्रव्य में जीवादि पदार्थों को अवकाश देने की शक्ति है तो मूर्त्तिक पदार्थों का परस्पर प्रतिघात नहीं होना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि आकाश में अवकाशदान की शक्ति होने पर भी स्थूल पदार्थ परस्पर टकरा जाते हैं, एक-दूसरे का प्रतिघात करते हैं तथापि वज्र, पत्थर, दीवाल आदि स्थूल पदार्थों में प्रतिघात होने से आकाश के अवकाशदान में कोई कमी नहीं आती है क्योंकि स्थूल पदार्थ परस्पर प्रतिघात करते हैं, सूक्ष्म नहीं, परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करने की शक्ति का योग होने से सूक्ष्म पदार्थों का प्रतिघात नहीं होता। (रा.वा. ७) यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वज्र और लोढा आदि स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए उनका आपस में व्याघात होता है, अतः आकाश की अवकाश देने रूप सामर्थ्य नष्ट नहीं होती। यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करने वाले पदार्थों का ही है। तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह कुछ आकाश का दोष नहीं है। हाँ जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं। (सर्वा. ५६१)

६. प्रश्न : यदि सूक्ष्म पुद्गल परस्पर अवकाश देते हैं तो यह आकाश का असाधारण लक्षण कैसे हो सकता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है, यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है। (सर्वा. ५६१)

सूक्ष्म पदार्थों के परस्पर अवकाश देने पर भी आकाश के अवगाहदान लक्षण में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि सर्व-पदार्थों को अवगाह देने रूप विशेष लक्षण आकाश में ही घटित होता है। जैसे भूमि

आदि में अश्व आदि की गति-स्थिति का उपकार दृष्टि-गोचर होने पर भी सर्व जीव और पुद्गलों की गति-स्थिति रूप उपकार रूप असाधारण लक्षण से धर्म और अधर्म द्रव्य का अनुमान लगाया जाता है; वैसे ही सर्व द्रव्यों के अवगाहदान रूप विशेष लक्षण से आकाश द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। (रा.वा.८)

७. प्रश्न : अलोकाकाश में अवगाही पदार्थों का अभाव होने से आकाश नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ आकाश के लक्षण का अभाव है ?

उत्तर : यद्यपि अलोकाकाश में अवगाही पदार्थ नहीं हैं, तथापि आकाश के 'अवगाहदान' स्वभाव का नाश नहीं होता, आकाश का स्वभाव अलोकाकाश में मौजूद है। जैसे- जल में अवगाहन करने वाले हंस आदि के अभाव में भी अवगाह देने रूप जल का स्वभाव नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार अवगाही पदार्थ के अभाव में भी अलोकाकाश सामर्थ्य की हानि नहीं होती। (रा.वा. ९)

८. प्रश्न : आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल आवरण का अभाव मात्र है ?

उत्तर : आकाश आवरण का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि है, जैसे- नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी 'सत्' है ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है। (रा.वा. ११)

९. प्रश्न : लोक में कुण्ड और बेर आदि पृथक्सिद्ध पदार्थों में ही आधार-आधेय भाव देखा जाता है अतः इनमें आधार-आधेय भाव नहीं है ?

उत्तर : अयुतसिद्ध (अपृथक्) पदार्थों में भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है। जैसे- युतसिद्ध के अभाव में भी 'हाथ में रेखा' यह आधार-आधेय भाव है। उसी प्रकार 'लोकाकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य है' इस प्रकार आधार-आधेय भाव की सिद्धि होती है। अथवा -

जैसे 'ईश्वर में ऐश्वर्य है यहाँ अयुतसिद्ध में आधार-आधेय भाव बनता है' वैसे ही लोकाकाश में धर्म-अधर्म द्रव्य हैं, यह व्यवहार होना उपयुक्त है। (रा.वा. ४)

पुद्गल द्रव्यकृत उपकार कहते हैं-

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् ।

(शरीरवाङ्मनः) शरीर, वचन, मन (प्राणापानाः) श्वासोच्छ्वास (पुद्गलानाम्) पुद्गलों कृत उपकार है।

अर्थ - शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलकृत उपकार हैं।

१. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य जीव का क्या उपकार करता है ?

उत्तर : पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत प्रकार से उपकार करता है- शरीर बनाता है, इन्द्रियाँ बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छ्वास बनाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक पुद्गल द्रव्य इस प्रकार के और भी अनेक उपकार करता है। मोह परिणाम को करता है तथा अज्ञानमय परिणाम को भी करता है। पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जिससे जीव का जो केवल-ज्ञान स्वभाव है वह भी विनष्ट हो जाता है। (का.अ. २०८-२११)

२. प्रश्न : सूत्र में शरीर का आदि में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : शरीर के होने पर ही वचन आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है अतः सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है। शरीर ही वचन आदि का अधिष्ठानभूत है, अतः शरीर के होने पर ही आधेयभूत वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि की प्रवृत्ति होती है, अतः शरीर सब में प्रधान है, ऐसा मानकर सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण किया है। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : शरीर के बाद वचन आदि का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : शरीर के बाद वचन का ग्रहण किया है क्योंकि वचन ही पुरुष को हित में प्रवृत्ति कराते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा वचन पुरुष को हित में प्रवृत्ति कराते हैं। (रा.वा. २)

जिस आत्मा के शरीर और वचन होता है, उसी के मन हो सकता है, जिसके शरीर नहीं है और वचन वर्गणाओं को वचन रूप परिणमन कराने का सामर्थ्य नहीं है, उसके मन नहीं हो सकता अतः शरीर और वचन के बाद मन को स्थान दिया है। (रा.वा. ९)

सर्व संसारी जीवों का कार्य होने से अन्त में श्वासोच्छ्वास को ग्रहण किया है, क्योंकि सभी संसारी जीवों का श्वासोच्छ्वास लक्षण कार्य है। (रा.वा. १०)

४. प्रश्न : चक्षु आदि भी आत्मा के उपकारक हैं अतः उनका ग्रहण सूत्र में क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना क्योंकि आगे के सूत्र में दिए गए 'च' शब्द से सभी इष्ट का समुच्चय हो जाएगा। (रा.वा. ३)

चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मप्रदेश रूप हैं अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि अंगोपांग नामकर्म के उदय से रची गई द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, वे आत्मा का उपकार करती हैं, इसलिए 'च' शब्द से उनका ग्रहण किया है। (रा.वा. ४)

५. प्रश्न : मन अनिन्द्रिय है, उसको पुद्गलकृत उपकार मानना ठीक नहीं है तथा उस मन को पृथक् ग्रहण भी नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : अनवस्थित होने से मन को पृथक् ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। यह तर्क भी उचित नहीं है, क्योंकि अनवस्थित होने पर भी मन क्षयोपशम निमित्तक तो है ही अर्थात् नेत्रादि के समान निश्चल नहीं होने पर भी पुद्गल कृत होने से उसका उपकार मानना उचित ही है तथा यह नियम है कि जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ-वहाँ के अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मन के रूप से परिणत हो जाते हैं। (रा.वा. ६)

६. प्रश्न : क्या सूत्र में शरीर आदि का ग्रहण पुद्गल का लक्षण बताने के लिए कहा गया है ?

उत्तर : नहीं, यहाँ पर सूत्र में शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास का ग्रहण पुद्गल के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिए नहीं है। आत्मा के उपकारक होने से उसके उपकार-प्रतिपादन के लिए है-क्योंकि पुद्गल का लक्षण तो आगे के सूत्र में कहेंगे। पुद्गल का लक्षण तो व्यापी है, सारे पुद्गलों में पाया जायेगा परन्तु शरीर, वचन, मन आदि सर्व पुद्गलों से निर्मित नहीं हैं, मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और आहार वर्गणाओं से निर्मित हैं इसलिए ये पुद्गल का लक्षण नहीं बन सकते हैं। (रा.वा. ११)

७. प्रश्न : मन का पृथक् उपकार नहीं दिखता है अतः मन नामक कोई वस्तु नहीं है ?

उत्तर : यह प्रश्न उचित नहीं है, क्योंकि गुण-दोष विचार आदि मन के स्वतन्त्र कार्य दृष्टिगोचर होते हैं। मनोलब्धि वाले आत्मा के जो पुद्गल मन रूप से परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्य इन्द्रियों के उपघातक कारणों के सन्निधान होने पर भी गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में सहायक होते ही हैं अतः अन्तःकरण (मन) का स्वतन्त्र अस्तित्व है। (रा.वा. ३१)

८. प्रश्न : क्या मन के माध्यम से इन्द्रियाँ सुख-दुःख का अनुभव करती हैं ?

उत्तर : इन्द्रियाँ मन के माध्यम से सुख-दुःख का अनुभव करती हैं ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ चेतना स्वभाववाली हैं। वस्तुतः गरम लौह पिण्ड के समान आत्मा का ही इन्द्रिय रूप से परिणमन हुआ है, अतः चेतना रूप होने से इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःखादि का अनुभव करती हैं। यदि मन के बिना इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःख का अनुभव नहीं करती हैं तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि उनके मन का अभाव है। (रा.वा. ३०)

९. प्रश्न : पुद्गल द्रव्य का उपकार प्रत्यक्ष दिखता है अतः उसका वर्णन नहीं करना चाहिए?

उत्तर : यह तर्क उचित नहीं है कि प्रत्यक्ष होने से पुद्गल के उपकार का वर्णन नहीं करना चाहिए-क्योंकि किन्हीं के पुद्गल अप्रत्यक्ष भी हैं। जैसे- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण। ये शरीरकर्म मूलतः सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष हैं, मन अप्रत्यक्ष ही है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हैं- क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं अतः इन्द्रियों से अतीत हैं। इसलिए पुद्गल के उपकार को स्पष्ट करने के लिए शरीरादि का उपदेश किया गया है। (रा.वा. १२)

१०. प्रश्न : कार्माण शरीर औदारिक शरीर के समान आकार वाला नहीं है अतः इसे पौद्गलिक कहना उचित नहीं है ?

उत्तर : यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे- ब्रीहि (चावल) आदि धान्य, पानी, धूप आदि मूर्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से पकता है इसलिए पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड़ कण्टक आदि मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से पकता है अर्थात् इष्टानिष्ट बाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है अतः कार्माण शरीर पौद्गलिक है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता तथा अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थ से विपच्यमान दृष्टिगोचर नहीं होता। (रा.वा. १४)

११. प्रश्न : क्या वचन भी पौद्गलिक हैं ?

उत्तर : पुद्गल के निमित्त से होने से दोनोंप्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन दो प्रकार के हैं- (१) भाव वचन (२) द्रव्य वचन।

भाव वचन - भाव वचन वीर्यान्तराय और मति-श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं, अतः भाववचन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक हैं, यदि वीर्यान्तराय और मतिश्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मों का क्षयोपशम न हो तो भाववचन हो ही नहीं सकता।

द्रव्यवचन - भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूप से परिणत होते हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया से जो पुद्गल वर्गणाएँ वचन रूप परिणत होती हैं, उन्हें द्रव्यवचन कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्यवचन भी पौद्गलिक हैं। (रा.वा. १५)

१२. प्रश्न : यदि शब्द पौद्गलिक हैं तो एक बार ग्रहण (सुनाई) होने के बाद पुनः ग्रहण क्यों नहीं होते ?

उत्तर : शब्द बिजली के समान असंहतत्व (असंलग्न) होने से पुनः गृहीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध बिजली द्रव्य एक बार चमक कर फिर शीघ्र ही विशीर्ण (नष्ट) हो जाता है अतः पुनः आँखों से दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा एक बार उपलब्ध वचन सम्पूर्ण रूप से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुनः दुबारा सुनाई नहीं देते। (रा.वा. १६)

१३. प्रश्न : क्या शब्द अमूर्तिक है ?

उत्तर : नहीं, शब्द का ग्रहण, व्याघात एवं अभिभव देखा जाता है अतः शब्द अमूर्तिक नहीं है। (सर्वा. ५६३)। शब्द को अमूर्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द का मूर्तिमान् पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा एवं अवरोध देखा जाता है।

ग्रहण - कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्तिमान् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है। जो अमूर्त होता है वह किसी मूर्तिमान् इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होता।

प्रेरणा - शब्द वायु द्वारा प्रेरित रुई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशा में स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने से समीपस्थ को भी नहीं सुनाई देता। इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यंत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों में भिजवाया भी जाता है। अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थों के द्वारा प्रेरित नहीं होता।

अवरोध - नल, बिल, रिकार्ड आदि में नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिमान् किसी पदार्थ के द्वारा अवरुद्ध हुआ नहीं देखा जाता है। (रा.वा. १८)

१४. प्रश्न : यदि शब्द पौद्गलिक है तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं होता?

उत्तर : घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्धद्रव्य रसादि की अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। जैसे - घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होते। (रा.वा. १७)

१५. प्रश्न : क्या मन भी पौद्गलिक है ?

उत्तर : हाँ, तन्मय होने से दोनों ही मन पौद्गलिक हैं। मन दो प्रकार का है-

(१) भावमन और (२) द्रव्यमन।

ये दोनों ही मन पौद्गलिक हैं, क्योंकि दोनों ही मन पुद्गल से सम्बन्धित है।

भावमन - लब्धि और उपयोग रूप भावमन है, वह पुद्गल निमित्तक और पुद्गल का अवलम्बन लेने वाला होने से पौद्गलिक है। अर्थात् भावमन में भी ज्ञानावरणादि कर्म के क्षयोपशम रूप पुद्गल का अवलम्बन रहता है।

द्रव्यमन - गुण-दोष विचार और स्मरणादि रूप व्यापार में तत्पर आत्मा के अनुग्राहक ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के लाभ के कारण, वीर्य विशेष के संचय करने में समर्थ जो पुद्गल वर्गणाँ मन रूप से परिणत होती हैं, उनको द्रव्यमन कहते हैं, पुद्गल द्रव्य के निमित्त और अवलम्बन से रचित होने से द्रव्यमन तो पौद्गलिक ही है। (रा. वा. २०)

१६. प्रश्न : मन आत्मा से भिन्न है या अभिन्न ?

उत्तर : मन आत्मा से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। जैसे- वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा आत्मा के ही प्रदेश चक्षु आदि इन्द्रिय रूप से परिणमन करते हैं अतः आत्मा से इन्द्रियाँ भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण ही मन रूप से परिणमन करती है अतः मन आत्मा से कथंचित् अभिन्न है। जिस प्रकार इन्द्रियों के नष्ट हो जाने

पर आत्मा का नाश नहीं होता अतः इन्द्रियाँ आत्मा से कथंचित् भिन्न हैं उसी प्रकार मन की निवृत्ति होने पर भी आत्मा का अवस्थान रहता है नाश नहीं होता इसलिए आत्मा से मन कथंचित् भिन्न है। (रा.वा. २१)

१७. प्रश्न : प्राणापान किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोष्ठ की वायु को उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीरकोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वास लक्षण प्राण कहते हैं।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती है- उस निःश्वास को अपान कहते हैं। ये श्वासोच्छ्वास आत्मा के जीवन में कारण होते हैं अतः इनके द्वारा पुद्गल आत्मा का उपकार करता है। (रा.वा. ३५-३६)

सुखी, आलस्यरहित, रोग, पराधीनता, चिन्ता आदि से रहित जीव के संख्यात आवली के समूह रूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है। (गो.जी. ५७४ के बाद क्षेपक)

१८. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक है ?

उत्तर : भय के कारणों से तथा वज्रपात आदि के शब्दों के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है। हाथ से मुख और नाक को बन्द कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ में कफ आदि के आ जाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है अतः मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक हैं क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के द्वारा अमूर्तिक पदार्थ के अभिघात और अभिभव (रुकावट) नहीं हो सकते हैं। (रा. वा. ३७)

१९. प्रश्न : शरीर आदि कौनसी वर्गणाओं से बनते हैं ?

उत्तर : तेबीस प्रकार की वर्गणाओं में से औदारिकादि शरीर और श्वासोच्छ्वास आहार वर्गणाओं से, तेजोवर्गणारूप स्कन्ध के द्वारा तैजस कार्माण शरीर कार्माण वर्गणा से, वचन भाषा वर्गणा से तथा मनो वर्गणा से मन निष्पादित होता है अतः ये सब पौद्गलिक हैं। (गो. जी. ६०७-८)

२०. प्रश्न : तेबीस प्रकार की वर्गणाएँ कौन-कौनसी हैं ?

उत्तर : अणु वर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहार-वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजस, वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, भाषा वर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, कार्माण वर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तर निरन्तर वर्गणा, शून्य वर्गणा, प्रत्येक शरीर वर्गणा, ध्रुवशून्य वर्गणा, बादर निगोद वर्गणा, शून्य वर्गणा, सूक्ष्म निगोद वर्गणा, नभो वर्गणा तथा महास्कन्ध वर्गणा ये तेबीस प्रकार की वर्गणाएँ हैं। (गो. जी. ५९४-९५)

२१. प्रश्न : क्या औदारिक-वैक्रियिक और आहारक तीनों शरीर आहार वर्गणाओं से ही बनते हैं ?

उत्तर : नहीं, यद्यपि सामान्य रूप से आहार वर्गणाओं के द्वारा ही औदारिकादि तीनों शरीरों का निर्माण कहा गया है तथापि विशेष विवक्षा में तीनों शरीरों की वर्गणायें भिन्न-भिन्न हैं; जिन आहार वर्गणाओं से औदारिक शरीर का निर्माण होता है उनसे वैक्रियिक और आहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। जिन आहार-वर्गणाओं से वैक्रियिक शरीर का निर्माण होता है उनसे औदारिक और आहारक शरीर का निर्माण नहीं होता। क्योंकि औदारिकादि तीन शरीरों का निर्माण करने वाली आहार वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् हैं किन्तु उन तीन प्रकार की वर्गणाओं के अग्राह्य वर्गणा द्वारा व्यवधान नहीं होने से उनकी एक वर्गणा मानी गयी है। (ध. १४)

पुद्गल के और भी उपकार कहते हैं-

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाः च ।

अर्थ - सुख-दुःख, जीवित और मरण ये पुद्गल के उपकार हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परिणाम विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे- शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय, गमन, व्यवहरण, चिन्तन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गल कृत उपकार हैं, उसको बताने के लिए यह सूत्र कहा है। (रा.वा. उ. २०)

क्या पुद्गलों का इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५६४)

२. प्रश्न : सुख किसे कहते हैं ?

उत्तर : साता वेदनीय के उदय रूप अन्तरंग हेतु के रहते हुए बाह्य द्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से जो प्रीति रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वह सुख है। (सर्वा. ५६५) जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है तब आत्मा को जो प्रीति या प्रसन्नता होती है उसे सुख कहते हैं। (रा.वा. १)

जो सन्तोष उत्पन्न करने वाले हों उन्हें सुख कहते हैं। (म. पु. ६३/२२६) जो पदार्थ जिस प्रकार अवस्थित है उनका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो परम सुख है। (प. पु. ४३/३०)

जिसके द्वारा मन, इन्द्रियाँ और आत्मा प्रफुल्ल-आनन्दित हो उसे सुख कहते हैं। अथवा जिस पदार्थ को देखने या भक्षण करने से मन और इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त होता है, उसे सुख कहते हैं। (जी.वा. ४/१०) (दुःख का लक्षण देखें ६/११)

३. प्रश्न : जीवित-मरण किसे कहते हैं ?

उत्तर : भवस्थिति में कारणभूत आयुर्कर्म द्रव्य से सम्बन्धित जीव के प्राणापान लक्षण क्रिया का उपरम नहीं होना ही जीवित है। भवस्थिति का कारण आयु कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राणापान क्रिया का चालू रहना, उसका उच्छेद नहीं होना ही जीवित है। (रा.वा. ३)

पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुर्कर्म के उदय से भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राण और अपान रूप क्रियाविशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है। (सर्वा. ५६५)

प्राणापान का विच्छेद हो जाना मरण है। (रा. वा. ४)

४. प्रश्न : सूत्र में सुख-दुःख आदि का क्रम इस प्रकार क्यों रखा है ?

उत्तर : सर्व प्राणियों के सर्व प्रयत्न सुख के लिए होते हैं अतः सुख का ग्रहण सर्वप्रथम किया है। अप्रीति का कारण होने से सुख का प्रतिपक्षीभूत दुःख है, अतः सुख के बाद दुःख का कथन किया है। जीवन में सुख-दुःख दोनों होते हैं। जीवित प्राणी के ही सुख और दुःख होते हैं अतः सुख और दुःख के आधार-भूत जीवित को ग्रहण किया है। आयुक्षय के निमित्त से होने वाला मरण प्राणियों के द्वारा अन्त में प्राप्त होता है अतः उसको अन्त में कहा है। (रा.वा. ५-८)

५. प्रश्न : सुख आदि पुद्गल कृत उपकार कैसे हैं ?

उत्तर : ये सुख आदि पुद्गल कृत उपकार हैं, क्योंकि मूर्त्त कारणों के रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है। (सर्वा. ५६५)

सुख-दुःख-जीवन-मरण रूप उपकार पुद्गलकृत हैं, पुद्गल के निमित्त से होने के कारण वे पौद्गलिक कहलाते हैं। (रा.वा. ८)

६. प्रश्न : उपग्रह का प्रकरण है अतः सूत्र में दिया गया 'उपग्रह' वचन निरर्थक है ?

उत्तर : सूत्र में 'उपग्रह' वचन निरर्थक नहीं है। यद्यपि यहाँ उपग्रह का प्रकरण है फिर भी इस सूत्र में उपग्रह का ग्रहण पुद्गलों के स्वोपकार की सूचना करने के लिए है। जैसे- धर्म, अधर्म और आकाश अन्य जीव और पुद्गलों का उपग्रह मात्र करते हैं वैसे पुद्गल उपकार नहीं करते। पुद्गलों का स्व-उपकार भी है, इसलिए सूत्र में पुनः 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण किया है। (रा.वा. ९)

७. प्रश्न : पुद्गल पुद्गल का उपकार किस प्रकार करता है ?

उत्तर : कांसी आदि का भस्म, जलादि का कतकादि और लोहे आदि का जलादि उपकार करते हैं अर्थात् कांसे को भस्म से स्वच्छ किया जाता है, पानी में कतकफल डाल देने से पानी स्वच्छ हो जाता है, तलवार की धार करने के लिए या वस्त्र को, जमीन को स्वच्छ करने के लिए जल का प्रयोग किया

जाता है, शरीर में पौद्गलिक कर्मों के उदय का उपशमन करने के लिए पौद्गलिक औषधि खाई जाती है, उससे रोग दूर होता है अतः पुद्गल पुद्गल का उपकार करता है। (रा.वा. ९)

८. प्रश्न : मरण आत्मा का उपकार कैसे हो सकता है क्योंकि वह किसी को इष्ट नहीं होता है ?

उत्तर : यद्यपि साधारणतया मरण किसी को भी प्रिय नहीं है परन्तु व्याधि-पीड़ा शोकादि से व्याकुल प्राणी, 'जिसको जीवन से घृणा हो चुकी है' उसको लोक में मरण भी प्रिय होता है। अतः मरण को भी उपकार की श्रेणी में ले लिया है। अथवा -

यहाँ उपकार शब्द से इष्ट पदार्थ नहीं लिया गया है किन्तु पुद्गलों के द्वारा होने वाले समस्त कार्य लिये गये हैं। पुद्गल के संयोग से आत्मा में जो-जो विकृति होती है, उसके लिए उपकार शब्द का प्रयोग है, इष्ट पदार्थ के लिए नहीं, जैसे- दुःख भी अनिष्ट है परन्तु पुद्गल कृत प्रयोजन होने से दुःख का निर्देश किया है, वैसे ही पुद्गल का प्रयोजन बताने के लिए मरण का उपकार माना है इसमें कोई दोष नहीं है। (रा. वा. १०-११)

९. प्रश्न : 'शरीर वाङ्.....' और 'सुख -दुःख.....' दोनों का एक सूत्र करना चाहिए ?

उत्तर : "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां" "सुख-दुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च" इन दोनों का यदि एक सूत्र बनाते तो यह सन्देह होता कि शरीरादि चार के क्रमशः सुख-दुःख आदि चार फल हैं, उस अनिष्ट आशंका की निवृत्ति के लिए पृथक् सूत्र की रचना की है तथा सुख-दुःख, जीवित-मरण का सम्बन्ध उत्तर सूत्र में कथित जीवोपकारों से भी जुड़ता है, अतः पृथक्-पृथक् सूत्र ही बनाया गया है। (रा.वा. १२)

१०. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गलकृत और भी उपकार हैं इसके समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं। (सर्वा.५६५)

जीवकृत उपकार कहते हैं-

परस्परुपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

परस्पर-उपग्रहः-जीवानाम् ।

अर्थ - जीव भी परस्पर उपकार करते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चारों अजीव द्रव्यों का दूसरे का उपग्रह जैसे सान्त्वितिक है, क्या इसी प्रकार आत्मा के

भी पर का उपकारत्व है अथवा कोई दूसरी विधि है, ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। (रा.वा.उ. २१) इस प्रकार पहले अजीवकृत उपकार को दिखाकर अब जीवकृत उपकार को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५६६)

२. प्रश्न : जीव का परस्पर क्या उपकार है ?

उत्तर : स्वामी-नौकर, आचार्य-शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं, जैसे स्वामी अपने धन का त्याग करके सेवक का उपकार करता है और सेवक स्वामी के हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है। आचार्य उभयलोक हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार करते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।^१ (रा.वा. २)

३. प्रश्न : उपग्रह का प्रकरण है अतः सूत्र में 'उपग्रह' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट चार का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र में पुनः उपग्रह वचन का निर्देश किया है। यद्यपि उपग्रह का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र में 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट सुख-दुःख, जीवित और मरण इन चारों का ही प्रतिनिर्देश किया है। इन चारों के सिवाय जीवों का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नहीं है, किन्तु पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट ही उपकार है। अथवा - स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुनः उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है। जैसे- रति क्रिया में स्त्री और पुरुष परस्पर उपकार करते हैं, उसी प्रकार सुखादि में सर्वथा नियम परस्पर उपकार का नहीं है, यह बताने के लिए पुनः उपग्रह वचन का प्रयोग किया है, क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को वा दो जीवों को वा बहुत से जीवों को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दुःखी करता हुआ एक जीव को, दो जीवों को या बहुत से जीवों को दुःखी करता है अथवा कभी एक, दो, बहुत जीवों तथा अपने आपके लिए सुख या दुःख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवों के लिए सुख-दुःख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वयं दुःखी भी दूसरे को सुखी और स्वयं सुखी भी दूसरों को दुःखी कर सकता है। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है कि सुखी सुखी एवं दुःखी दुःखी ही करे। (रा.वा. ३-४)

काल द्रव्य कृत उपकार बताते हैं-

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

वर्तना-परिणाम-क्रियाः-परत्व-अपरत्वे च कालस्य ।

(वर्तनापरिणामक्रियाः) वर्तना, परिणाम, क्रिया (परत्वापरत्वे च) परत्व और अपरत्व (कालस्य) कालद्रव्य कृत उपकार हैं।

अर्थ - वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यकृत उपकार हैं।

वर्तना - परिवर्तन को परिणाम कहते हैं।

क्रिया - द्रव्य में जो परिस्पन्द रूप परिणाम है वह क्रिया है।

परत्व - अल्पकालीन पर्याय की अपेक्षा दीर्घ कालीन पर्याय परत्व कहलाता है।

अपरत्व - दीर्घकालीन पर्याय की अपेक्षा अल्पकालीन पर्याय अपरत्व कहलाती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : यदि सत् (द्रव्य) अवश्य उपकारी ही होना चाहिए तो काल को भी 'सत्' द्रव्य माना है, उसका क्या उपकार है ? ऐसा पूछने पर आगे कहे जाने वाले स्वतत्त्व अमूर्तिक काल द्रव्य का उपकार बताने के लिए यह सूत्र कहा है। (रा. वा. उ. २२)

अथवा - जैसे-धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों के अस्तित्व का आविर्भावक गमन सहायक आदि उपकार कहा है, उसी प्रकार काल के अस्तित्व का सूचक प्रतिनियत उपकार है कि नहीं ? यदि काल के अस्तित्व का सूचक उपकार है तो क्या है, उसका वर्णन करना चाहिए ? ऐसा पूछने पर आचार्य ने वर्तना आदि काल के उपकार बताए हैं। (रा.वा.)

२. प्रश्न : वर्तना किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्यपर्याय में अन्तर्नीत एक समय वाली स्वसत्ता की अनुभूति वर्तना है। एक अविभागी समय में धर्मादि छहों द्रव्य आदिमान् और अनादिमान् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के विकल्प रूप अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा वर्तना करते हैं, उस विषय को वर्तना कहते हैं। (रा.वा. ४)

अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है अथवा - शीत काल में छात्रों को पढ़ने के लिए अग्नि सहकारी है उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में सहकारिता है उसको वर्तना कहते हैं। (वृ.द्र.सं. टी. २१)

प्रत्येक द्रव्य के एक-एक समयवर्ती परिणमन में जो स्वसत्ता की अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं। (त.सा. ३/४१)

३. प्रश्न : धर्मादि अमूर्त द्रव्यों में वर्तना कैसे होती है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघु गुण में छहवृद्धि और छह हानि के द्वारा वृद्धि व हानि रूप वर्तन होता है। (गो.जी. ५६९)

४. प्रश्न : वर्तना को सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अभ्यर्हित होने से वर्तना को सर्वप्रथम ग्रहण किया है। परमार्थ काल की प्रतिपत्ति वर्तना

पूर्वक ही होती है अतः वर्तना अभ्यर्हित (पूज्य) है, वर्तना के निमित्त से होने वाले परिणाम आदि व्यवहार काल के चिह्न है, अतः परिणामादि अप्रधान होने से वर्तना के समान पूज्य नहीं है, इसलिए वर्तना का सर्वप्रथम ग्रहण किया है। (रा.वा. २९)

५. प्रश्न : सत्ता से वर्तना हो जायेगी, क्योंकि वह सर्व साधारण एवं सर्व पदार्थों में रहती है ?

उत्तर : सत्ता यद्यपि सर्व पदार्थों में रहती है, साधारण है परन्तु वर्तना सत्ता हेतुक नहीं हो सकती, क्योंकि वर्तना सत्ता का भी उपकार करती है। काल से अनुगृहीत वर्तना ही सत्ता कहलाती है अतः काल नाम का पदार्थ सत्ता से भी पृथक् ही होना चाहिए। (रा.वा. ९)

६. प्रश्न : आकाश प्रदेशों के निमित्त से द्रव्यों की वर्तना हो जाएगी अतः वर्तना का हेतु कोई काल नामक पदार्थ नहीं है ?

उत्तर : आकाश प्रदेशों को द्रव्यों की वर्तना में कारण मानना ठीक नहीं है क्योंकि आकाश तो भाजन (वर्तन) के समान वर्तना का अधिकरण है, जैसे-वर्तन चावलों का अधिकरण है, चावलों को वह वर्तन पकाता नहीं है, उनके पाक के लिए तो अग्नि का व्यापार चाहिए, उसी प्रकार आकाश भी सूर्य की गति आदि वर्तना वाले द्रव्यों का अधिकरण तो हो सकता है, वह वर्तना की उत्पत्ति में सहकारी नहीं हो सकता अर्थात् आकाश द्रव्यों की वर्तना नहीं करा सकता, वर्तना तो काल का ही व्यापार है। (रा.वा. ८)

७. प्रश्न : वर्तना को काल का उपकार क्यों कहा है ?

उत्तर : यद्यपि धर्मादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय को उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी उनकी वृत्ति बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती, इसलिए उसे प्रवर्तनि वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना को काल का उपकारक कहा है। (सर्वा. ५६९)

८. प्रश्न : यदि द्रव्य की पर्याय बदलाने वाला काल है तो काल द्रव्य सक्रिय होगा जैसे-शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे- कण्डे की अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डे की अग्नि निमित्त मात्र है, उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है। (सर्वा. ५६९)

९. प्रश्न : सूर्य की गति से वर्तना को मानना चाहिए, काल से नहीं ?

उत्तर : ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य की गति में भी काल का सद्भाव है। द्रव्यों की वर्तना में सूर्य की गति कारण नहीं है क्योंकि सूर्य की गति में भी भूत, वर्तमान, भविष्यत् आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। भूतादि व्यवहार की विषयभूत सूर्य के गमन में रूढ़ क्रिया में वर्तना देखी जाती है, उसका हेतु अन्य अवश्य होना चाहिए। जो उसकी वर्तना में हेतु है, वही काल है। (रा.वा. ७)

१०. प्रश्न : वर्तना काल की परिणति है ऐसा किस युक्ति से जाना जाता है ?

उत्तर : (प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध होने वाली वर्तना अनुमान से जानी जा सकती है।) जैसे- अग्नि के द्वारा तीस मिनट में चावल पके हैं तो यह नहीं समझना चाहिए कि उन्तीस मिनट तक ज्यों के त्यों रखे रहे और तीसवें मिनट में पक कर भात बन गया, उसमें तो प्रथम समय से लेकर सूक्ष्म पाक की निष्पत्ति प्रति समय में ही हो रही है अतः वर्तना पाक के समान अनुमान से जानी जाती है। (रा.वा. ५)

११. प्रश्न : परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के स्वजाति का परित्याग न करके स्वाभाविक और प्रायोगिक लक्षण विकार को परिणाम कहते हैं या परिवर्तन को परिणाम कहते हैं। चेतन और अचेतन द्रव्यत्व जाति द्रव्य से यद्यपि भिन्न नहीं है तथापि द्रव्यार्थिक नय की अविवक्षा से द्रव्य अपनी स्वजाति को नहीं छोड़ते हुए भी पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से किसी पर्याय से उत्पन्न होता है और किसी पूर्व पर्याय से नष्ट होता है, यही विकार है। (रा.वा. १०)

एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्यायें हैं उन्हें परिणाम कहते हैं, यथा जीव के क्रोधादि और पुद्गल के वर्णादि। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में परिणाम होता है। (सर्वा. ५६९)

१२. प्रश्न : परिणाम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परिणाम दो प्रकार का होता है-

(१) अनादिमान परिणाम (२) आदिमान परिणाम। (रा.वा. १०)

(१) अनादिमान परिणाम (२) सादिमान परिणाम। (रा.वा. ५/४२)

अनादिमान परिणाम - लोक की रचना, सुमेरु पर्वत आदि का आकार अनादि परिणाम है। (रा.वा. १०)

अनादि परिणाम - धर्मादि द्रव्यों के गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह, अवकाशदान, वर्तना आदि परिणाम अनादि हैं, क्योंकि जब से धर्मादि द्रव्य हैं तभी से इनके परिणाम हैं। धर्मादि द्रव्य पहले हों और गति आदि उपकार बाद में हों, ऐसा नहीं है क्योंकि धर्मादि के साथ इनका सम्बन्ध अनादि है। (रा.वा. ५/४२) सादि (आदि) मान् परिणाम - बाह्य कारणों से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यों के परिणाम होते हैं वे सादि परिणाम हैं। (रा.वा. ५/४२)

आदिमान परिणाम दो प्रकार का है। (रा.वा. १०) १. प्रयोगजन्य २. स्वाभाविक

१३. प्रश्न : दो प्रकार का सादि परिणाम कौनसा है ?

उत्तर : वैस्रसिक परिणाम एवं प्रयोगज परिणाम ये दो सादिमान परिणाम हैं।

वैस्रसिक परिणाम - चैतन्य द्रव्य के जो औपशमिकादि भाव हैं, जो मात्र कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा से होते हैं वे वैस्रसिक परिणाम कहलाते हैं और इन्द्रधनुष-मेघादि से पुद्गल का परिणामन वैस्रसिक है। (रा.वा. १०)

प्रयोगज परिणाम - गुरु, आचार्य आदि पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होने वाले ज्ञान, शील, भावना आदि लक्षण चैतन्य द्रव्य के परिणाम प्रयोगज हैं। (रा.वा. १०)

१४. प्रश्न : व्यवहार काल को परिणामादि रूप क्यों माना गया है ?

उत्तर : जीव-पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसलिए वह व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व लक्षण वाला कहा गया है। (वृ. द्र.सं. टी. २१)

१५. प्रश्न : सभी द्रव्यों में सादि एवं अनादि परिणाम किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर : दोनों (द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक) नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि है। विशेषता यह है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव-पुद्गलों का कथंचित् प्रत्यक्ष-गम्य भी होता है। (रा.वा. ५/४२)

१६. प्रश्न : क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्रिया दो प्रकार की होती है-

(१) प्रायोगिक क्रिया (२) वैस्रसिक क्रिया।

बैलगाड़ी आदि में प्रायोगिकी क्रिया है।

मेघ आदि की क्रिया वैस्रसिक क्रिया है। (रा.वा. १९)

नोट - क्रिया का लक्षण देखें (५/७)

१७. प्रश्न : द्रव्य के भाव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्य के भाव दो प्रकार के होते हैं-

(१) परिस्पन्दात्मक और (२) अपरिस्पन्दात्मक।

परिस्पन्दात्मक क्रिया - (बाह्य आभ्यन्तर कारणों के निमित्तों से उत्पन्न हुई) परिस्पन्दात्मक परिणामन क्रिया है।

अपरिस्पन्दात्मक क्रिया - प्रतिक्षण जो उत्पाद और व्यय होता है वह अपरिस्पन्दात्मक क्रिया है। (रा.वा. १९-२१)

१८. प्रश्न : क्रिया का परिणाम में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः केवल परिणाम का ही निर्देश करना चाहिए ?

उत्तर : केवल परिणाम कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि भावों के द्वैविध्य का ख्यापन करने के लिए क्रिया का पृथक् निर्देश किया है। द्रव्य के भाव दो प्रकार के हैं-

(१) परिस्पन्दात्मक (२) अपरिस्पन्दात्मक।

उसमें परिस्पन्दात्मक भाव को क्रिया कहते हैं। अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना परिस्पन्दात्मक क्रिया है और अपरिस्पन्दात्मक को परिणाम कहते हैं। इन दोनों भावों में काल निमित्त है। इस बात की सूचना के लिए क्रिया का पृथक् ग्रहण करना आवश्यक है। (रा.वा. २१)

१९. प्रश्न : 'परत्वापरत्व' को पृथक् क्यों कहा है 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानि' ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं किया ?

उत्तर : परस्पर अपेक्षा के कारण परत्वापरत्व को पृथक् ग्रहण किया है। परत्व की अपेक्षा अपरत्व और अपरत्व की अपेक्षा परत्व होता है अतः परस्पर अपेक्षा को सूचित करने के लिए परत्वापरत्व को सूत्र में पृथक् ग्रहण किया है।^१ (रा.वा. २८)

२०. प्रश्न : 'परत्वापरत्व' अनेक प्रकार का है अतः यहाँ किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : क्षेत्रकृत, गुणकृत और कालकृत परत्वापरत्व में यहाँ काल के उपकार का प्रकरण होने से कालकृत परत्वापरत्व का ग्रहण करना चाहिए। दूरदेशवर्ती कुमार और तपस्वी की अपेक्षा समीपवर्ती तपस्वी एवं चाण्डाल में काल की अपेक्षा 'पर' व्यवहार देखा जाता है और विप्रकृष्ट दूर-देशवर्ती तपस्वी में 'अपर' व्यवहार देखा जाता है। यहाँ ये कालकृत परत्वापरत्व ग्रहण करने चाहिए। (रा.वा. २२)

२१. प्रश्न : परिणामादिक को नहीं कहना चाहिए क्योंकि ये वर्तना के ही विकल्प हैं ?

उत्तर : दो प्रकार के काल के अस्तित्व को बताने के लिए परिणाम आदि को ग्रहण किया है। परमार्थ काल और व्यवहार काल के भेद से काल दो प्रकार का है। जैसे- धर्म, अधर्म द्रव्य आदि गति-स्थिति में उपकारक हैं, उसी प्रकार वर्तना में मुख्य काल द्रव्य उपकारक है। (रा.वा. २४)

२२. प्रश्न : काल द्रव्य का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : वह काल नामक पदार्थ न तो स्वयं परिणमित होता है और न अन्य को अन्य रूप से परिणामाता है। किन्तु स्वतः नाना प्रकार के परिणामों को प्राप्त होने वाले पदार्थों का काल स्वयं हेतु होता है। (ध. ४/३१५)

जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती हैं अर्थात् कही जाती हैं उसे काल कहते हैं। इस प्रकार काल शब्द की व्युत्पत्ति है। काल, समय और अद्धा ये एकार्थवाची हैं। (ध. ४/३१८)

पाँच वर्ण और पाँच रस रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श रहित अगुरु-लघु, सूक्ष्म अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला काल है। (पं. का. ता. २४)

सत्ता रूप स्वभाव वाले जीव के तथैव पुद्गलों के और 'च' शब्द से धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के परिवर्तन में जो निमित्त कारण हो वह नियम से काल द्रव्य है। (पं. का. ता. २३)

२३. प्रश्न : काल कितने प्रकार का है ?

उत्तर : काल दो प्रकार का है-

(१) परमार्थ काल (२) व्यवहार काल। (रा.वा. २४)

(१) मुख्य काल (२) अमुख्य काल। (ति.प. ४/२८२)

सामान्य से काल एक प्रकार का है। अथवा

काल छह प्रकार का है-

(१) गुणस्थिति काल (२) भवस्थिति काल (३) कर्म स्थिति काल (४) काय स्थिति काल (५) उपपाद स्थिति काल (६) भाव स्थिति काल। अथवा - काल अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं। (ध. ४/३२२)

काल तीन प्रकार का है।

(१) भूतकाल (२) वर्तमान काल (३) भविष्यत् काल। (रा.वा. २५)

२४. प्रश्न : निश्चय काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : वह काल वर्ण, गन्ध-रस-स्पर्श रहित है। वर्णादि रहित होने से अमूर्त है और अमूर्त होने से सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ज्ञान ग्राह्य है और वह षट्गुण हानि वृद्धि सहित अगुरुलघुत्व स्वभाव वाला है। काल का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है। (पं.का. ता. २४)

जो आदि और अन्त से रहित है, अमूर्त है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्य रूप है, वह निश्चय काल है। (वृ. द्र. सं. टी. २१)

वर्तना ही है लक्षण जिसका वह वर्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप निश्चय काल है। (रा.वा.६)

कुम्हार के चक्र की भाँति यह परमार्थ काल वर्तना का निमित्त है। उसके बिना पाँच अस्तिकायों की वर्तना नहीं हो सकती। (नि.सा. ३३ श्लो. ४८)

जो वर्तना लक्षण वाला है वह परमार्थ काल है। (वृ. द्र. सं. टी. २१)

निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी है। (पं. का. टी. १००)

२५. प्रश्न : व्यवहार काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव तथा पुद्गल के परिवर्तन रूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है, उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति है स्वरूप जिसका वह द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। संस्कृत प्राभृत में भी कहा है-

जो स्थिति है, वह काल संज्ञक है। द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, यह स्थिति ही व्यवहार काल है, वह पर्याय व्यवहार काल नहीं है। पर्याय सम्बन्धिनी स्थिति व्यवहार काल है। (वृ. द्र. सं.टी. २१)

२६. प्रश्न : व्यवहार काल किस स्वरूप है ?

उत्तर : वह व्यवहार काल समय, आवली, लव, मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्योपम, सागरोपम आदि रूप है। (ध. ४/३१७) समय निमिष, काष्ठा, कला घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह व्यवहार काल उत्पन्न होता है। (नि.सा. श्लो. ४७)

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष इस प्रकार पराश्रित (व्यवहार) काल है। (पं. का. २५ ता.) यदि भव, आयु, काय और शरीर आदि की स्थिति का समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकार से होता है। (म.पु. ३/१३)

२७. प्रश्न : व्यवहार काल कितने प्रकार का है ?

उत्तर : असंख्यात समय की एक आवली होती है। संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है, आदि। व्यवहार काल के आवली से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं। (गो.जी. ५७४-७६)

व्यवहार काल तीन प्रकार का है-

(१) अतीत काल (२) अनागत काल (३) वर्तमान काल। (गो.जी. ५७८)

पुद्गल द्रव्य से अनन्तगुणा व्यवहार काल है। (गो.जी. ५९०)

व्यवहार काल दो प्रकार का है-

(१) समय (२) आवलि। (नि.सा. ३१)

२८. प्रश्न : लोक में कालाणु कितने हैं ?

उत्तर : जितने लोकाकाश में प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। एक-एक आकाशप्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। (रा.वा. २४) जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर

कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। (वृ.द्र.सं.टी. २२)

घनरूप सात राजू (७×७×७ = ३४३) के जितने प्रदेश हैं, यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। (मू.आ.२३२)

२९. प्रश्न : कालाणु द्रव्य कैसे है ?

उत्तर : कालाणु द्रव्य निष्क्रिय है। (रा.वा. २४)

कालाणु में मुख्य और प्रदेश कल्पना नहीं है क्योंकि ये निरवयवी हैं। कालाणु में कायत्व का अभाव है, विनाश का कारण न होने से कालाणु नित्य है, कालाणु में परप्रत्यय से उत्पाद-विनाश होता रहता है इसलिए अनित्य भी है। वे कथंचित् अमूर्त एवं कथंचित् मूर्त हैं। (रा.वा. २४)

३०. प्रश्न : कालाणु में कायत्व का अभाव क्यों है ?

उत्तर : परमाणु में प्रदेशप्रचय के कारण उपचार से प्रदेश कल्पना है परन्तु कालाणु में धर्मास्तिकाय आदि के समान न तो मुख्य प्रदेशप्रचय-कल्पना है और न परमाणु के समान उपचार प्रदेश प्रचय कल्पना है, अतः कालाणु में कायत्व का अभाव है। (रा.वा. २४)

कालाणु तो द्रव्यतः प्रदेशमात्र होने से और पर्यायतः परस्पर सम्पर्क न होने से अप्रदेशी ही है। इसलिए निश्चय हुआ कि कालद्रव्य अप्रदेशी है अर्थात् कायत्व से रहित है। (प्र.सा.आ. १३५)

काल को कायपना नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेशी है। (नि.सा. ३६)

३१. प्रश्न : कालाणु मूर्त एवं अमूर्त किस अपेक्षा है ?

उत्तर : सुई में धागा जाने के आकाशमार्ग के छिद्र के समान परिछिन्न मूर्ति होने पर भी रूप-रस आदि से रहित होने के कारण अमूर्त है। अमूर्त होते हुए भी सुई के छिद्र का आकाश सुई की नोक बराबर मूर्त हो जाता है, उतने स्थान का कालाणु भी परिछिन्न हो जाने से मूर्त सा दिखता है परन्तु रूप आदि नहीं होने से वास्तव में अमूर्त है। (रा.वा. २४)

३२. प्रश्न : काल द्रव्य के अभाव में अलोकाकाश में वर्तना कैसे होती है ?

उत्तर : आकाश अखण्ड द्रव्य है इसलिए जैसे- चाक के एक कोने में डण्डे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख अनुभव होता है, उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एकदेश में स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है। (वृ.द्र.सं.टी. २२)

जिस प्रकार लटकती हुई लम्बी डोरी को, लम्बे बाँस को या कुम्हार के चाक को एक ही स्थान पर स्पर्श करने पर भी सर्वत्र चलन होता है, जिस प्रकार मनोज्ञ स्पर्शनेन्द्रिय विषय का अथवा रसनेन्द्रिय विषय का शरीर के एक ही भाग में स्पर्श होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में सुखानुभव होता है और जिस प्रकार सर्पदंश या व्रण आदि शरीर के एक ही भाग में होने पर भी सम्पूर्ण आत्मा में दुःख वेदना होती है, उसी

प्रकार कालद्रव्य लोकाकाश में ही होने पर भी सारे आकाश में परिणति होती है क्योंकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है। (पं. का. ता. २४)

३३. प्रश्न : सर्व द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण काल द्रव्य है तो काल-द्रव्य के परिणमन में कौनसा द्रव्य कारण है ?

उत्तर : जिस तरह आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है। (वृ. द्र.सं.टी. २२)

जैसे- दीपक घट-पट आदि अन्य पदार्थों का प्रकाशक होने पर भी स्वयं अपने आप का प्रकाशक होता है, उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक आदि की आवश्यकता नहीं हुआ करती, इसी प्रकार से काल द्रव्य भी अन्य जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिवर्तन का निमित्त कारण होते हुए भी अपने आपका परिवर्तन स्वयं ही करता है, उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। (ध. ४/३२०-२१)

३४. प्रश्न : जैसे काल द्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है, वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने-अपने परिणमन के सहकारी कारण क्यों नहीं हैं ? उनके परिणमन में काल से क्या प्रयोजन ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिए सहकारी कारण-भूत धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। काल का कार्य घड़ी दिन आदि प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम से ही जाना जाता है। यदि काल द्रव्य का अभाव माना जाएगा तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य व आकाश द्रव्य के अभाव का प्रसंग भी उसी प्रकार आ जाएगा और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे, जो आगमविरुद्ध है। (वृ. द्र. सं. टी. २२)

३५. प्रश्न : यदि काल द्रव्य न हो तो क्या हानि है ?

उत्तर : काल के अभाव में, पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन न हो तो, द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी, इस प्रकार सर्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। (नि.सा. टी. ३२)

३६. प्रश्न : काल द्रव्य का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : समयादिक क्रियाविशेषों की और समयादिक के द्वारा होने वाले पाक आदिक के समय पाक इत्यादिक रूप से अपनी-अपनी रौढिक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें जो समय-काल, औदन पाककाल इत्यादि रूप से कालसंज्ञा का अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञा के निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्य की अपेक्षा रखता है। (सर्वा. ५६९)

३७. प्रश्न : समय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अति सूक्ष्म अविभागी कालांश को समय कहते हैं। तत्प्रायोग्य वेग से एक परमाणु के ऊपर की ओर और दूसरे परमाणु के नीचे की ओर जाने वाले इन दो परमाणुओं के शरीर द्वारा स्पर्शन होने में लगने वाला काल समय कहलाता है। (ध. पु. १३/२९८)

द्रव्यों की जघन्य पर्याय स्थिति क्षणमात्र होती है और जघन्य स्थिति रूप क्षण मात्र को ही समय कहते हैं। (गो.जी. ५७३)

एक परमाणु का दूसरे परमाणु को व्यतिक्रम करने में जितना काल लगता है उस काल को समय कहते हैं। (ध. ४/३१८)

आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल परमाणु मन्दगति से चलता हुआ जितने काल में अपने अनन्तवर्ती प्रदेश में जाता है उसे समय कहते हैं। (न.च. १३९)

पुद्गल परमाणु का निकट में स्थित आकाश प्रदेश के अतिक्रमण प्रमाण जो अविभागी काल है वही समय नाम से प्रसिद्ध है। (ति. प. ४/२८८)

३८. प्रश्न : यदि ऐसा है तो एक समय में परमाणु चौदह रज्जु गमन करता है, यह आगम वाक्य कैसे रहेगा ?

उत्तर : आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाशप्रदेश से अतिक्रमण कर दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है, सो तो मन्दगति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु गमन कहा है वह शीघ्रगमन की अपेक्षा से है। इसलिए शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक समय ही लगता है। इसका दृष्टान्त है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्रगति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन हो गये ? किन्तु एक दिन ही लगेगा। (वृ. द्र. सं. टी. २२)

३९. प्रश्न : जब पुद्गल परमाणु शीघ्र गति से एक समय में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाशप्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है अतः असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होने चाहिए ?

उत्तर : विशिष्ट गति परिणाम से विशिष्ट अवगाह परिणाम के समान, एक समय में परमाणु के लोकान्त पर्यन्त गमन होने पर भी समय के सांशता नहीं आती है। वह इस प्रकार- जैसे विशिष्ट अवगाह परिणाम के कारण एक परमाणु के बराबर अनन्त परमाणु का एक स्कन्ध हो जाने पर भी परमाणु के अनंश-निरंश-अखण्ड होने से उसके अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता है, उसी प्रकार विशिष्ट गति परिणाम के

कारण एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश के उल्लंघन में लगने वाले समय के बराबर एक समय में ही, लोक के एक ओर के अन्तिम स्थान पर्यन्त लोक का उल्लंघन कर जाने वाले परमाणु के असंख्यात कालाणु समय के अनंश-अखण्ड होने से उसके असंख्यात अंशों को सिद्ध नहीं करते हैं। (प्र.सा. आ. १३९)

४०. प्रश्न : आवली आदि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : आवली - असंख्यात समयों की एक आवली होती है।

उच्छ्वास (नाड़ी) - संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है।

स्तोक - सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है।

लव - सात स्तोक का एक लव होता है।

नाली (घड़ी) - साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है।

मुहूर्त्त - दो घड़ी का एक मुहूर्त्त होता है।

भिन्न मुहूर्त्त - एक समय कम मुहूर्त्त का भिन्न मुहूर्त्त होता है। (गो.जी. ५७४-५७५)

तीन हजार सात सौ तेहत्तर (३७७३) उच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त कहा जाता है। एक मुहूर्त्त में पाँच हजार एक सौ दश (५११०) निमेष गिने हैं। (ध. ४/३१८)

निमिष - आँख की पलक मारने से जो प्रगट हो व जिसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं, वह निमिष है।

काष्ठा - पन्द्रह निमिषों की एक काष्ठा होती है।

कला - तीस काष्ठाओं की एक कला होती है।

नाली - कुछ अधिक बीस कला की एक नाली (घटिका या घड़ी) होती है।

ऋतु - दो मास की एक ऋतु होती है।

अयन - तीन ऋतु का एक अयन होता है।

वर्ष - दो अयन का एक वर्ष है। (पं.का.ता. २५)

दिवस - तीस मुहूर्त्तों का एक दिन रात होता है।

पक्ष - पन्द्रह दिनों का एक पक्ष है।

मास - दो पक्षों का एक मास होता है। वे मास श्रावण आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष होता है।

वर्ष - बारह मास का एक वर्ष होता है।

युग - पाँच वर्षों का एक युग होता है। (हरि. पु. ७/२१-२२)

आठ निमिष की काष्ठा होती है। सोलह काष्ठा की कला होती है। बत्तीस कला की घड़ी, साठ घड़ी का अहोरात्र होता है। (नि.सा.टी. ३१)

नोट - पल्य, सागर आदि का लक्षण (देखे ३/३८)।

४१. प्रश्न : मुहूर्त्त कौन-कौन से है ?

उत्तर : (१) रोद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वारुण (१४) अर्यमन् (१५) भाग्य। ये पन्द्रह मुहूर्त्त दिन में होते हैं।

(१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त (१४) सुगन्धर्व (१५) अरुण, ये पन्द्रह मुहूर्त्त रात्रि में होते हैं। (ध. ४/३१९)

४२. प्रश्न : अतीतादि काल कितने हैं ?

उत्तर : अतीत सिद्धों को सिद्ध पर्याय के प्रादुर्भाव समय से पूर्व बीता हुआ जो आवली आदि व्यवहार काल वह उन्हें संसार-दशा में जितने संस्थान बीत गये उनके जितना होने से अनन्त है। (नि.सा.टी. ३१)

सिद्धराशि को संख्यात आवलियों से गुणा करने पर अतीत काल का प्रमाण होता है। (गो.जी. ५७८)

संख्यात आवली गुणित सिद्धराशि अतीत काल का प्रमाण है। (का.अ.टी. २२१)

वर्तमान काल समय मात्र है। (गो. जी. ५७९)

सर्व जीवों से और सर्व पुद्गलों से अनन्तगुणा भविष्यत् काल है। (गो.जी. ५७९)

४३. प्रश्न : देवलोक में तो दिन-रात्रि रूप काल का अभाव है, फिर वहाँ पर काल का व्यवहार कैसे होता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि यहाँ के काल से देवलोक में काल का व्यवहार होता है। (ध. ४/३२१)

पुद्गल

पुद्गल का लक्षण कहते हैं-

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

(स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले (पुद्गल) पुद्गल होते हैं।

अर्थ - स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

स्पर्श - जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है।

रस - जो स्वाद रूप होता है वह रस है।

गन्ध - जो सूंघा जाता है वह गन्ध है।

वर्ण - जिसका कोई वर्ण है उसे वर्ण कहते हैं।

नोट - स्पर्शादि के लक्षण देखें (२/२०)

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने शरीरादि को पुद्गल का उपकार माना है परन्तु चार्वाकादि शरीर को जीव कहते हैं, वह कैसे ? उसके उत्तर में आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। (रा.वा. उ. २३)

यहाँ शंकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्य का उपकार कहा तथा 'उपयोगों लक्षणम्' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा। इसी प्रकार 'अजीवकाया' इत्यादि सूत्र द्वारा पुद्गलों का सामान्य लक्षण भी कहा, किन्तु पुद्गलों का विशेष लक्षण नहीं कहा, इसलिए यह सूत्र कहा है। (सर्वा. ५६९)

२. प्रश्न : स्पर्शादि के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : स्पर्श के आठ भेद हैं- मृदु-कठोर, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष।

रस के पाँच भेद हैं- तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय।

गन्ध के दो भेद हैं- (१) सुगन्ध (२) दुर्गन्ध।

वर्ण के पाँच भेद हैं- नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित (रक्त)। (रा.वा. ७-१०)

३. प्रश्न : स्पर्शादि के उत्तर भेद कितने हैं ?

उत्तर : इन स्पर्शादि के उत्तर भेद एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण परिणाम होते हैं। (रा.वा. १०)

४. प्रश्न : सर्व प्रथम स्पर्श का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सभी में सबल होने से स्पर्श को आदि में ग्रहण किया है। पाँचों इन्द्रियों के सभी विषयों में भी स्पर्श सबल है क्योंकि स्पष्टग्राही इन्द्रियों में स्पर्श की शीघ्र अभिव्यक्ति होती है वा सर्वप्रथम स्पर्श का ही ग्रहण होता है तथा सभी संसारी जीवों के यह ग्रहण योग्य होता है। इसलिए स्पर्श का ग्रहण सर्वप्रथम

किया है। (रा.वा. १)

५. प्रश्न : स्पर्श के बाद रस आदि का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यद्यपि स्पर्श-सुख से निरुत्सुक जीवों में कहीं-कहीं रस व्यापार की प्रचुरता देखी जाती है, फिर भी स्पर्श के होने पर ही उनके रस का व्यापार होता है, अतः स्पर्श का प्रथम ग्रहण करना न्याय-संगत है। स्पर्श के बाद रस का ग्रहण होता है इसलिए स्पर्श के बाद रस का ग्रहण किया गया है क्योंकि स्पर्श पूर्वक ही रस का ग्रहण होता है।

चक्षु का विषय न होने से रूप के पूर्व गन्ध का ग्रहण किया है। (रा.वा. २-४)

६. प्रश्न : वर्ण का अन्त में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : स्थूल होने पर ही उसकी उपलब्धि होती है अतः अन्त में वर्ण का ग्रहण किया गया है। पुद्गल के सर्व गुणों के अन्त में वर्ण को ग्रहण किया है क्योंकि स्थूल पुद्गलों में ही वर्ण का ग्रहण होता है सूक्ष्म में नहीं। (रा.वा. ५)

७. प्रश्न : पूर्व में कहे “रूपिणः पुद्गला” सूत्र से ही पुद्गल रूपादि गुण वाला सिद्ध हो जाता है अतः यह सूत्र निष्फल है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि “नित्यावस्थितान्यरूपाणि” इस सूत्र में धर्मादिक द्रव्यों का नित्य आदि रूप से निरूपण किया है। इससे पुद्गलों को अरूपित्व प्राप्त हुआ, अतः इस दोष को दूर करने के लिए ‘रूपिणः पुद्गलाः’ यह सूत्र कहा है। परन्तु यह सूत्र पुद्गलों के स्वरूप विशेष का ज्ञान कराने के लिए कहा है। (सर्वा. ५७०)

८. प्रश्न : सूत्र में ‘मतुप्’ प्रत्यय क्यों किया है ?

उत्तर : स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाले पुद्गल कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्य से सदा सम्बन्ध है। यह बताने के लिए ‘मतुप्’ प्रत्यय किया है। (सर्वा. ५७०)

९. प्रश्न : पुद्गल का लक्षण क्या है ?

उत्तर : जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श परिणाम वाला होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है वह सब पुद्गल द्रव्य है। (का.अ.टी. २०७)

सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यन्त पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय (अक्षर-अनक्षर आदि के भेद से विविध प्रकार का) जो शब्द है, वह भी पुद्गल है अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। (प्र.सा.ता. १३२)

पुद्गल की पर्यायों का कथन करते हैं-

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थान भेदतमच्छाया-तपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तम-छाया-आतप-उद्योतवन्तः च ।

अर्थ - पुद्गल शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत पर्याय वाले हैं।

शब्द - जो अर्थ को कहता है वह शब्द है।

बन्ध - जो बाँधता है वह बंध है।

सौक्ष्म्य - सूक्ष्म का भाव सौक्ष्म्य है।

स्थौल्य - स्थूल का भाव स्थौल्य है।

संस्थान - जो आकार रूप होता है वह संस्थान है।

भेद - जो भेदन करता है वह भेद है।

तम - जो आत्मस्वरूप को अन्धकारावृत्त करता है, वह तम है।

छाया - जो प्रकाश का आवरण करती है वह छाया है।

आतप - असाता के उदय से जो अपने को तपाता है वह आतप है।

उद्योत - जो निरावरण को द्योतित (प्रकाशित) करता है वह उद्योत है।

१. प्रश्न : पुद्गल की कौन-कौन सी पर्यायें हैं ?

उत्तर : शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। शब्द आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें जाननी चाहिए। (वृ. द्र. सं. टी. १६)

२. प्रश्न : शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अर्थ को शपति अर्थात् कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है वा कहना मात्र जिसका अर्थ है, वह शब्द है। (रा.वा. १)

बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है। (पं.का.स. ७९)

३. प्रश्न : शब्द कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : शब्द दो प्रकार के होते हैं-

(१) भाषात्मक शब्द (२) अभाषात्मक शब्द। (सर्वा. ५७२)

शब्द तीन प्रकार के होते हैं-

(१) प्रशस्त (२) घोर (३) मोघ। (ध. १३/२२२)

शब्द छह प्रकार का है-

(१) तत (२) वितत (३) घन (४) सुषिर (५) घोष (६) भाषा। (ध. १३/२२२)

घोष - घर्षण को प्राप्त हुए द्रव्य से उत्पन्न हुआ शब्द घोष है। (ध. १३/२२१)

४. प्रश्न : भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : भाषा दो प्रकार की होती है-

(१) साक्षर भाषा (२) अनक्षर भाषा। (सर्वा. ५७२)

(१) अक्षरात्मक भाषा (२) अनक्षरात्मक भाषा। (ध. १३/२२१)

भाषा अठारह प्रकार की है-

तीन कुरुक (कर्णाट) भाषाओं, तीन लाह भाषाओं, तीन मरहठा (गुर्जर) भाषाओं, तीन मालव भाषाओं, तीन गौड़ भाषाओं और तीन मागध भाषाओं के भेद से अठारह भाषा होती हैं। (ध. १३/२२२)

५. प्रश्न : अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्मक भाषा किसे कहते हैं ?

उत्तर : **अक्षरात्मक भाषा** - उपघात से रहित इन्द्रियों वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की भाषा अक्षरात्मक भाषा है।

अनक्षरात्मक भाषा - द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मुख से उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है। (ध. १३/२२१-२२)

जिससे उनके सातिशय ज्ञान का पता चलता है ऐसे द्वीन्द्रिय आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। (सर्वा. ५७२)

संस्कृत, प्राकृतादि-भाषा रूप जो शब्द हैं वे साक्षर शब्द कहलाते हैं। (त.सा. ३/६३)

अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादि के शब्द रूप और दिव्यध्वनि रूप होते हैं। (पं. का. ता. ७९)

६. प्रश्न : अक्षरात्मक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अक्षरात्मक भाषा दो प्रकार की होती है-

(१) भाषा (२) कुभाषा। (ध. १३/२२२)

(१) संस्कृत भाषा (२) असंस्कृत भाषा। (रा.वा. ३)

अक्षरात्मक भाषा संस्कृत, प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। (द्र. सं.टी. १६)

७. प्रश्न : कुभाषा कितनी होती हैं ?

उत्तर : कुभाषाएँ काश्मीर, देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनों के (मुख से) निकली हुई सात सौ भेदों में विभक्त हैं। (ध. १३/२२२)

कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्याङ्कुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और जीवों की हिंसा करने वाली ये दश दुर्भाषा हैं, इनको छोड़ें। (ज्ञा. १८ पर उद्धृत)

८. प्रश्न : अभाषात्मक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अभाषात्मक भाषा दो प्रकार की होती है।

(१) प्रायोगिक भाषा (२) वैस्रसिक भाषा।

प्रायोगिक - जो पुरुष के पुरुषार्थ से उत्पन्न होती है, वह प्रायोगिक भाषा है।

वैस्रसिक - मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक है क्योंकि उसमें किसी सचेतन प्राणी के पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं है, स्वयमेव पुद्गल वर्णणार्थ परस्पर टकराकर ध्वनि उत्पन्न करती हैं। (रा.वा. ४)

९. प्रश्न : प्रायोगिक भाषा कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : प्रायोगिक भाषा चार प्रकार की होती है-

(१) तत (२) वितत (३) घन (४) सुषिर।

तत - पुष्कर, भेरी आदि में चमड़े के तनाव से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह शब्द तत कहलाता है। (रा.वा. ५)

वीणा, त्रिसरिक, आलापिनी, वब्बीसक, खुक्खुण आदि से उत्पन्न हुआ शब्द तत है। (ध. १३/२२१)

वितत - तंत्रीकृत (तार के तनाव के कारण) वीणा, सुघोष आदि समुत्पन्न शब्द वितत कहलाता है। (सर्वा. ५७२) भेरी, मृदंग और पटह आदि से उत्पन्न शब्द वितत है। (ध. १३/२२१)

घन - ताल, घण्टा आदि अभिघात से समुद्भव शब्द घन कहलाते हैं। (सर्वा. ५७२) जयघंटा आदि ठोस द्रव्यों के अभिघात से उत्पन्न हुआ शब्द घन है। (ध. १३/२२१)

सुषिर - बाँसुरी, शंख आदि से निकलने वाला शब्द सुषिर कहलाता है।

१०. प्रश्न : बंध कितने प्रकार का है?

उत्तर : बंध दो प्रकार का है - १. वैस्रसिक बंध २. प्रायोगिक बंध

११. प्रश्न : वैस्रसिक बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : बन्ध विधि से विपरीत विस्त्रसा कहलाता है। पुरुषार्थ की अपेक्षा विधि होती है अर्थात् जिसमें पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं है वह विस्त्रसा है। स्वभाव जिसका प्रयोजन है वह वैस्रसिक बन्ध है। (रा.वा. ८) मेघ आदि में जो बिजली रूप अग्नि का बन्ध है वह वैस्रसिक बन्ध है। (त.सा. ३/६७) जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैस्रसिक बन्ध है। जैसे- स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैस्रसिक बन्ध है। (सर्वा. ५७२)

१२. प्रश्न : वैस्रसिक बन्ध कितने प्रकार का है ?

उत्तर : वैस्रसिक बन्ध दो प्रकार का है-

(१) आदिमान् वैस्रसिक बन्ध (२) अनादिमान् वैस्रसिक बन्ध

आदिमान् वैस्रसिक बन्ध - स्निग्ध-रूक्ष गुणों के निमित्त बिजली, उल्का, जल-धारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्गल का बन्ध है वह आदिमान् वैस्रसिक बन्ध है।

अनादि वैस्रसिक बन्ध - अनादि वैस्रसिक बन्ध धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध करने से नव प्रकार का होता है। (रा.वा. ७)

कालाणुओं का कभी परस्पर विश्लेष नहीं होता अतः कालाणुओं का भी वैस्रसिक बन्ध अनादि है। एक जीव के प्रदेशों का संहरण और विसर्पण स्वभाव होने पर भी परस्पर विश्लेष (वियोग) नहीं होता है अतः उनका अनादि बन्ध है।

धर्म, अधर्म और आकाश, काल का कभी परस्पर वियोग नहीं होता अतः इनका भी परस्पर अनादि बन्ध है। नाना जीवों का भी सामान्य दृष्टि से अन्य द्रव्यों के साथ अनादि सम्बन्ध है। पुद्गल द्रव्यों में भी महास्कन्ध आदि का सामान्य रूप से अनादि बन्ध है।

इस प्रकार सब द्रव्यों में बन्ध की सम्भावना है परन्तु यहाँ पर पुद्गल का प्रकरण होने से पुद्गल का ही बन्ध लेना चाहिए। (रा.वा. ७)

१३. प्रश्न : नौ प्रकार का अनादिमान् वैस्रसिक बन्ध कौन-कौन सा है ?

उत्तर : (१) धर्मास्तिकाय बन्ध (२) धर्मास्तिकाय देशबन्ध (३) धर्मास्तिकाय प्रदेश बन्ध (४) अधर्मास्तिकाय बन्ध (५) अधर्मास्तिकाय देशबन्ध (६) अधर्मास्तिकाय प्रदेशबन्ध (७) आकाशास्तिकाय बन्ध (८) आकाशास्तिकाय देशबन्ध (९) आकाशास्तिकाय प्रदेशबन्ध।

सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय है। उसका आधा देश और आधे का आधा प्रदेश कहलाता है। (रा.वा. ७)

१४. प्रश्न : प्रायोगिक बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुरुष के काय, वचन और मन के संयोग को प्रयोग कहते हैं, प्रयोग जिसका प्रयोजन है

वह प्रायोगिक बन्ध कहलाता है। (रा.वा. ९) जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। (सर्वा. ५७२) लाख तथा लकड़ी आदि का जो बन्ध है वह प्रायोगिक बन्ध जानने के योग्य है। कर्म और नोकर्म का जो बन्ध है वह भी प्रायोगिक बन्ध है। (त.सा. ३/६७)

१५. प्रश्न : प्रायोगिक बन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार के होते हैं-

(१) अजीव विषयक बन्ध (२) जीवाजीव विषयक बन्ध।

अजीवविषयक बन्ध - लाख और काष्ठ का बन्ध अजीव विषयक बन्ध है।

जीवाजीव विषयक बन्ध - कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीव विषयक बन्ध है।

कर्म बन्ध - ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बन्ध को कर्मबन्ध कहते हैं।

नोकर्म बन्ध - औदारिक आदि शरीर विषयक नोकर्म बन्ध है। (रा.वा. ९)

अथवा - बन्ध पाँच प्रकार का है-

(१) आलपन (२) आलेपन (३) संश्लेष (४) शरीर बन्ध (५) शरीरी बन्ध। (रा.वा. ९)

१६. प्रश्न : आलपन आदि बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : आलपन बन्ध - रथ, गाड़ी आदि का लोहे की साँकल रस्सी आदि से खींच कर बाँधना आलपन बन्ध है।

आलेपन बन्ध - दीवार, महल आदि का मिट्टी का गारा, ईंट आदि के द्वारा परस्पर चिनना, लेपन देना, अर्पण करना आलेपन (आलयन) बन्ध है।

संश्लेष बन्ध - जतु (लाख) काठ आदि के संयोग से संश्लेषण से बन्ध होता है। उसे संश्लेष बन्ध कहते हैं।

शरीर बन्ध - औदारिक आदि शरीर नोकर्म बन्ध के भेद से शरीरबन्ध पाँच प्रकार का है। शरीर बन्ध प्रत्येक के संयोगज भंग की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार का भी है।

शरीरी बन्ध - शरीरी बन्ध दो प्रकार का है-

(१) अनादिमान् शरीरी बन्ध (२) आदिमान् शरीरी बन्ध। (रा.वा. ९)

१७. प्रश्न : अनादिमान् एवं आदिमान् शरीरी बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिमान् शरीरी बन्ध - जीव के आठ मध्य प्रदेशों का जो ऊपर-नीचे चार-चार रूप से स्थित हैं, वे सदा वैसे ही रहते हैं, रुचक के समान अवस्थित हैं, सर्वकाल में एक-दूसरे को नहीं छोड़ते हैं, यह अनादिमान् शरीरी बन्ध है।

आदिमान् शरीरी बन्ध - अन्य प्रदेशों में कर्म निमित्तक संकोच-विस्तार होता रहता है अतः उनका बन्ध आदिमान् है अथवा-

जैसे - क्रोध परिणत आत्मा को क्रोध कहते हैं, उसी प्रकार गरम लोहे के पिण्ड के समान शरीर के साथ बन्ध की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त हुआ शरीर परिणत आत्मा ही शरीर है अतः शरीर बन्ध के पूर्वोक्त औदारिक आदि पन्द्रह भेद शरीरी में भी लगा लेने चाहिए। (रा.वा. ९)

१८. प्रश्न : कर्म और नोकर्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आत्मा के योग परिणामों के द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। ये कर्म ही आत्मा को परतन्त्र बनाने का मूल कारण हैं।

कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीर आदि रूप पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है वह ईषत् कर्म नोकर्म कहलाता है।

अथवा - स्थिति के भेद से भी कर्म और नोकर्म के भेद हैं। (रा.वा.९)

१९. प्रश्न : सूक्ष्मता कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : सूक्ष्मता दो प्रकार की होती है-

(१) अन्त्य सूक्ष्मता (२) आपेक्षिक सूक्ष्मता।

अन्त्य सूक्ष्मता - अन्तिम सूक्ष्मता परमाणु में है क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है।

आपेक्षिक सूक्ष्मता - आपेक्षिक सूक्ष्मता बेर, आँवला, बिल्व फल आदि की अपेक्षा है। अर्थात् बिल्व से आँवला सूक्ष्म है और आँवला से बेर सूक्ष्म है। (रा.वा. १०)

२०. प्रश्न : स्थूलता कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्थूलता दो प्रकार की है-

(१) अन्त्य स्थूलता। (२) आपेक्षिक स्थूलता।

अन्त्य स्थूलता जगद्व्यापी महास्कन्ध में है।

आपेक्षिक स्थूलता बेर, आँवला, बिल्व और ताड़फल आदि में है अर्थात् बेर की अपेक्षा आँवला स्थूल है और आँवले की अपेक्षा बिल्व स्थूल है। (रा.वा. ११)

२१. प्रश्न : संस्थान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संस्थान दो प्रकार का है-

(१) इत्थंभूत संस्थान (२) अनित्थंभूत संस्थान।

इत्थंभूत संस्थान - गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, लम्बा, चौड़ा आदि रूप से जिसका वर्णन किया जा सके, वह इत्थंभूत संस्थान है। जैसे- पाटा, क्षेत्र, घर आदि।

अनित्थंभूत संस्थान - यह ऐसा लम्बा-चौड़ा है इत्यादि रूप से जिसका वर्णन नहीं किया जा सके, वह अनित्थंभूत संस्थान है जैसे- बिजली, मेघ आदि अनेक आकार। (रा.वा. १२-१३)

२२. प्रश्न : भेद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भेद छह प्रकार के हैं-

(१) उत्कर (२) चूर्ण (३) खण्ड (४) चूर्णिका (५) प्रतर (६) अणुचटन।

उत्कर - लकड़ी आदि को करोत आदि से चीरना उत्कर है।

चूर्ण - गेहूँ, चना, जौ आदि का सत्तू, चून आदि बनाना चूर्ण है।

खण्ड - घड़े आदि के खप्पर, टुकड़े आदि हो जाना खण्ड है।

चूर्णिका - मूंग, उड़द, चना आदि की दाल बनाना चूर्णिका है।

प्रतर - अभ्रक आदि के पटल प्रतर हैं।

अणुचटन - अग्नि से संतप्त लोहे आदि को घन आदि से कूटने पर जो स्फुलिंग निकलते हैं, उन्हें अणुचटन कहते हैं। (रा.वा. १४)

२३. प्रश्न : तम किसे कहते हैं ?

उत्तर : दृष्टि का प्रतिबन्धक कारण तम है। जो पुद्गल की पर्याय रूप वस्तु दृष्टि की प्रतिबन्धक है, जिसके होने पर चक्षु बाह्य वस्तु को देखने में असमर्थ हो जाती है उसे तम कहते हैं। उस अन्धकार को हटाने के कारण दीपक प्रकाशक कहा जाता है। (रा.वा. १५)

जो नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी है वह तम कहलाता है। (त.सा. ३/६८)

पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से आत्मा खिन्न होता है या जिसके द्वारा दुःखी किया जाता है अथवा खेद मात्र तम कहलाता है। (सुख बो.त.वृ. ३०८)

२४. प्रश्न : छाया किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीर आदि के निमित्तों के कारण जो प्रकाश का रुकना है, उसे छाया जानना चाहिए। (त.सा. ३/६९)

जो प्रकाश का आवरण करती है उसे छाया कहते हैं। (रा.वा. १६) पृथ्वी आदि ठोस पदार्थ के सम्बन्ध से शरीरादि के प्रकाश आवरण के समान आकार से जो अपने को परिच्छिन्न करती है वह छाया है। (सुख बो. त. वृ. ३०८)

२५. प्रश्न : छाया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : छाया दो प्रकार की है-

(१) वर्ण विकार परिणता छाया (२) प्रतिबिम्ब मात्र छाया।

वर्णविकार परिणता - दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ में दर्पण के वर्ण के समान मुख आदि का दिखना तद्वर्ण परिणता (वर्ण विकार परिणता) छाया है।

प्रतिबिम्ब मात्र - धूप आदि में शरीरादि की छाया है, वह प्रतिबिम्ब मात्र छाया है। (रा.वा. १७)

नोट - आतप एवं उद्योत का विशेष देखें ८/११।

२६. प्रश्न : पुद्गल की पर्याय होने से क्रिया का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि धर्म, अधर्म, आकाश को पूर्वसूत्र में (७वें) में निष्क्रिय कहा है अतः क्रिया पुद्गल की पर्याय है, इसका बिना कहे ही ग्रहण हो जाता है। (रा.वा. २०)

२७. प्रश्न : काल के भी क्रियावत्त्व कहना चाहिए क्योंकि धर्मादि द्रव्यों के समान काल के क्रियावत्त्व का निषेध नहीं किया है ?

उत्तर : काल द्रव्य में पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व का प्रसंग नहीं आता क्योंकि 'अजीव काया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इस सूत्र में अस्तिकायों के निर्देश में काल द्रव्य का ग्रहण नहीं किया गया है। यदि अस्तिकाय के सूत्र में 'काल' द्रव्य का ग्रहण होता तब तो 'आ आकाशादेक द्रव्याणि' 'निष्क्रियाणि' इन सूत्रों से काल के बाह्य होने के कारण काल के भी पुद्गल की तरह क्रियावत्त्व का प्रसंग आता, अथवा - यदि काल को सक्रिय मानना इष्ट होता तो 'द्रव्याणि जीवाः कालश्च' ऐसा निर्देश किया होता। परन्तु 'द्रव्याणि जीवा कालश्च' ऐसा सूत्र नहीं है और ऐसा करने पर 'जीवाः कालश्च' इस सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता तो सूत्र लघु हो जाता और 'कालश्च' इस सूत्र का पृथक् निर्माण भी नहीं करना पड़ता। इस प्रकार लघु न्याय से सर्वकार्य सिद्ध हो जाने पर भी जो आगे 'कालश्च' ऐसा पृथक् सूत्र बनाया गया है, उससे ज्ञात होता है कि काल के क्रियावत्त्व इष्ट नहीं है। यह धर्मादि की निष्क्रियता परिस्पन्द रूप क्रिया की अपेक्षा से जानना चाहिए, अस्ति भावात्मक क्रियाओं की अपेक्षा से नहीं। अतः अनादि पारिणामिक अस्ति आदि क्रियादृष्टि से काल द्रव्य क्रियावान् है परन्तु देशान्तर प्राप्ति कराने में समर्थ परिस्पन्द क्रिया-विशेष परिणाम का अभाव होने से काल निष्क्रिय है। (रा.वा. २१)

२८. प्रश्न : क्रिया कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्रिया दस प्रकार की है-

प्रयोग, बन्धाभाव, छेद, अभिघात, अवगाहन, गुरु, लघु, संचार, संयोग और स्वभाव निमित्त

क्रिया ।

(१) प्रयोगक्रिया - बाण, चक्र, कणय आदि की प्रयोग गति है क्योंकि बाण, चक्र आदि पुरुष के प्रयोग से देशान्तर में जाते हैं, यह प्रयोग क्रिया है ।

(२) बन्धाभाव - एरण्ड और तिन्दुक के बीज आदि की बन्धाभाव गति है क्योंकि इनके बन्ध का अभाव होने से ऊर्ध्वगमन क्रिया होती है ।

(३) छेदगति - मृदंग, भेरी, शंखादि शब्द रूप पुद्गलों की जो दूर तक जाते हैं, यह पुद्गलों की छेदगति है ।

(४) अभिघातगति - जतु, गोलक, कन्दु, दारु, पिण्ड आदि की अभिघात गति है ।

(५) अवगाहनगति - नौका आदि द्रव्यों की अवगाहन गति है ।

(६) गुरुत्वगति - पाषाण, लोहा आदि के स्फालन से नीचे की ओर गुरुत्व गति है ।

(७) लघुगति - तुम्बड़ी, अर्क, रुई आदि की लघुगति है ।

(८) संचारगति - सुरा, सिरका आदि की संचारगति है ।

(९) संयोगगति - मेघ, रथ, मुशल आदि क्रमशः वायु, घोड़ा, हाथी आदि के संयोग के निमित्त से होने वाली संयोग गति है ।

(१०) स्वभावगति - वायु, अग्नि, परमाणु, सिद्ध और ज्योतिषी देवों आदि की गति स्वाभाविक होने से स्वभावगति है । (रा.वा. २२)

नोट - क्रिया का लक्षण देखें - (५/७)

२९. प्रश्न : शब्दादि पुद्गल से पृथक् हैं या अपृथक् ?

उत्तर : कथञ्चित् शब्दादि में पुद्गल से पृथक्त्व है । शब्दादि भी पर्याय दृष्टि से पुद्गल से भिन्न हैं और गर्म लोहे के समान पुद्गल का ही शब्दादि रूप से परिणमन होता है अतः कथञ्चित् द्रव्यार्थिक दृष्टि से अभिन्नत्व भी है । (रा.वा. २४)

३०. प्रश्न : यदि स्पर्श, रस आदि और शब्द, बन्ध आदि पुद्गल के ही परिणाम हैं तो इन दोनों सूत्रों (२३-२४) का एक योग करना चाहिए ?

उत्तर : किसी के उभय पर्याय का ज्ञापन करने के लिए इनका पृथक् ग्रहण किया है । स्पर्शादि परमाणुओं के भी होते हैं और स्कन्धों के भी होते हैं परन्तु सौक्ष्म्य को छोड़कर शब्दादि व्यक्त रूप से स्कन्धों के ही होते हैं अर्थात् शब्दादि परमाणुओं से नहीं होते, इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिए पृथक् सूत्र बनाया गया है ।

आत्यन्तिक सूक्ष्मता तो परमाणु में ही है और आपेक्षिक सूक्ष्मता स्कन्धों में भी है। स्पर्शनादि गुणों के एक जातीय परिणाम का कथन करने के लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे- काठिन्य लक्षण एक स्पर्श गुण अपनी जाति को न छोड़कर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदों के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण कठिन स्पर्श पर्यायों से ही परिणत होता है; मृदु, लघु, गुरु आदि स्पर्शों से नहीं। इसी प्रकार मृदु आदि में भी समझना चाहिए। जैसे- सुरभि गन्ध पुद्गल का एक गुण है। वह अपनी जाति को नहीं छोड़ता हुआ पूर्व और उत्तर स्वगत भेदों के उत्पाद-विनाश को करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त गुण सुरभि गन्ध पर्यायों से परिणत होता है; दुर्गन्ध रूप पर्यायों से परिणत नहीं होता। ऐसे ही असुरभिगन्ध गुण, तिक्त रस गुण, शुक्ल वर्ण गुण आदि। (रा.वा. २५-२६)

३१. प्रश्न : जब कठिन स्पर्श मृदु रूप में, तिक्त-कटु आदि रूप में इतर गुणों के साथ परस्पर संयोग होने पर गुणान्तर रूप में परिणमन करते हैं तब यह एकजातीय परिणमन का नियम कैसे रहेगा ?

उत्तर : ऐसे स्थानों में कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जाति को नहीं छोड़ता हुआ ही मृदु स्पर्श से विनाश-उत्पाद का अनुभव करता हुआ परिणमन करता है, रस रूप से नहीं अर्थात् स्पर्श गुण स्पर्श गुण रूप से ही परिणमन करता है, रस, गन्ध आदि रूप से नहीं। उसी प्रकार रसादि गुण अपने स्वजातीय गुण रूप से ही परिणमन करते हैं अन्य रूप से नहीं, ऐसा जानना चाहिए। (रा.वा. २६)

३२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द इष्ट समुच्चय के लिए है अतः नोदन, अभिघात आदि जितने भी पुद्गल के परिणाम आगम में इष्ट होसकते हैं उन सबका समुच्चय 'च' से हो जाता है।^१ (रा.वा. २७)

पुद्गलों के भेद बताते हैं-

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

अणवः - स्कन्धाः च ।

अर्थ - पुद्गल अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि पुद्गल के भेदों को बताने के लिए पृथक् सूत्र किया है तो वे स्पर्शादि परिणाम कौनसे हैं, पुद्गल कौन हैं और उभय कौन हैं, उनका ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. २५) पूर्वोक्त पुद्गलों के भेदों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। (सर्वा. ५७३)

२. प्रश्न : पुद्गल कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : पुद्गल दो प्रकार के होते हैं-

(१) अणु (२) स्कन्ध। (त.सू. ५/२५)

(१) स्वभाव पुद्गल (२) विभाव पुद्गल। (नि.सा. टी. २०)

स्वभाव पुद्गल - परमाणु स्वभाव पुद्गल है।

विभाव पुद्गल - स्कन्ध विभाव पुद्गल है। (नि.सा.टी. २०)

समस्त पुद्गल द्रव्य चार प्रकार के होते हैं-

(१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश (४) अणु। (यो. सा. २/१९)

पुद्गल के छह भेद हैं :

(१) पृथ्वी (बादर-बादर) (२) जल (बादर) (३) छाया (बाद- सूक्ष्म) (४) नेत्रेन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय के विषय (सूक्ष्म बादर) (५) कार्माण स्कन्ध (सूक्ष्म) (६) परमाणु (सूक्ष्म-सूक्ष्म)। (गो.जी. ६०२-३)

३. प्रश्न : अणु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका आदि, मध्य, अन्त एक है, जिसको इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती हैं ऐसा जो अविभागी पुद्गल द्रव्य है उसे परमाणु कहते हैं। (नि.सा. २६)

स्कन्ध पर्यायों का जो अन्तिम भेद है वह परमाणु है। (पं. का. ता ७७)

जिसमें कोई एक रस, कोई एक वर्ण, कोई एक गन्ध व दो स्पर्श हो, जो शब्द का कारण हो स्वयं शब्द रहित हो, जो स्कन्ध से जुदा हो, उस पुद्गल द्रव्य को परमाणु कहते हैं। (पं.का.ता. ८१)

परमाणु के आठ प्रकार के स्पर्शों में अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध तथा एक रस समझना, अन्य नहीं। (नि.सा. टी. २७) सब द्रव्यों में जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुत्तर न हो वह अणु होता है। जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्यों में परमाणु जानना चाहिए। (ज.प. १३/१७)

एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो “अण्यन्ते” कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। (सर्वा. ५७४)

जो निरंश-जिसका दूसरा विभाग अब नहीं हो सकता है उस अविभागी पुद्गल को परमाणु कहते हैं। (मू. २३१)

जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से छेदा या भेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु है। (ति.प. १/९६)

४. प्रश्न : परमाणु कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अणु (परमाणु) चार प्रकार के होते हैं-

(१) कार्य परमाणु (२) कारण परमाणु (३) जघन्य परमाणु (४) उत्कृष्ट परमाणु।

(नि.सा.टी. २५)

पुद्गल परमाणु तीन प्रकार के हैं-

(१) सादि रूप (२) अनादि रूप (३) उभय (सादि-अनादि रूप) (ध. ४/३२७)

५. प्रश्न : कारण एवं कार्य परमाणु आदि का क्या लक्षण है ?

उत्तर : कारण परमाणु - जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का कारण है उसे कारण परमाणु कहते हैं। (नि.सा. २५)

स्कन्धों का निर्माण करने अर्थात् जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कन्ध बने वह कारण परमाणु है। (प.का.ता. ८०)

कार्य परमाणु - स्कन्धों में भेद होते-होते जो अन्तिम अंश रहता है उसे कार्य परमाणु कहते हैं। (नि.सा. २५)

स्कन्धों के भेद को करने वाला कार्य परमाणु है अर्थात् स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्य परमाणु है। (पं.का.ता. ८०)

६. प्रश्न : जघन्य एवं उत्कृष्ट परमाणु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जघन्य परमाणु - कारण परमाणु एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होने से सम या विषम बन्ध के अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है, ऐसा अर्थ है।

उत्कृष्ट परमाणु - एक गुण स्निग्ध और रूक्षता के ऊपर दो गुण वाले और चार गुण वाले का समबन्ध होता है तथा तीन गुण वाले का और पाँच गुण वाले का विषम बन्ध होता है वह उत्कृष्ट परमाणु है। (नि.सा.ता. २५)

७. प्रश्न : परमाणु के कौन-कौन से दो स्पर्श होते हैं ?

उत्तर : परमाणु में स्निग्ध-रूक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण में से एक, इस प्रकार दो स्पर्श रहते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठोर में से कोई स्पर्श परमाणु में नहीं होते हैं क्योंकि ये स्कन्धों में ही पाये जाते हैं। (रा.वा. १४)

८. प्रश्न : परमाणु में दो ही स्पर्श गुण क्यों होते हैं ?

उत्तर : परमाणु में दो ही स्पर्श गुण होते हैं। यह स्वभाव ही है और स्वभाव तर्क का विषय नहीं है। अथवा - आगम में ऐसा ही उपदेश है और 'आगम तर्कगोचर नहीं होता' ऐसा उपदेश है।

९. प्रश्न : परमाणु का आकार कैसा है ?

उत्तर : परमाणु गोल होते हैं। (म.पु. २४/१४८)

परमाणु चौकोर और अतीन्द्रिय है। (आ.सा. ३/१३-१४)

दिशाओं के भेद से छह: दिशाओं वाला परमाणु होता है। (श्लो. ५/३१४)

१०. प्रश्न : अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : कार्य लिङ्गत्व से परमाणु का अस्तित्व जाना जाता है। परमाणुओं के अभाव में शरीर, इन्द्रिय और महाभूत आदि लक्षण कार्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है अतः शरीर आदि स्कन्ध रूप कार्यो से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध है। (रा.वा. १५)

११. प्रश्न : परमाणु कैसा होता है ?

उत्तर : परमाणु अस्तिकाय है, अतीन्द्रिय है, स्पर्शादि पाँच गुणों से युक्त है। (आ.सा. ३/१३-१४) परमाणु अविभागी है, एकप्रदेशी होने से एक है, नित्य है, मूर्तिप्रभव है तथा अशब्द है। (पं.का. ७७)

परमाणु कारण, अन्त्य, सूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श वाला और कार्यलिंग है। (रा.वा. १६)

परमाणु आदेश मात्र से मूर्त है। चार धातु स्कन्ध का कारण है, परिणमन स्वभावी है और स्वयं अशब्द है। (पं. का. ७८)

१२. प्रश्न : परमाणु में कार्य-कारण आदि गुण किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : परमाणु द्व्यणुक आदि स्कन्ध कार्यो का उत्पादक होने से कथंचित् कारण है एवं स्कन्ध के भेद से उत्पन्न होता है और स्निग्ध रूक्षादि कार्य रूप गुणों का अधिकरण होने से कथञ्चित् कार्य भी है।

परमाणु से छोटा कोई भेद नहीं है अतः वह स्यात् अन्त्य है, प्रदेशभेद न होने पर भी गुणभेद होने के कारण वह अन्त्य नहीं भी है।

सूक्ष्म परिणमन होने से परमाणु स्यात् सूक्ष्म है और स्थूल कार्य की उत्पत्ति की योग्यता रखने से स्यात् स्थूल भी है।

परमाणु द्रव्यता को नहीं छोड़ता अतः स्यात् नित्य है, स्कन्ध पर्यायों को प्राप्त होता है और उसके स्निग्धादि गुणों का निरन्तर परिणमन होता रहता है अतः परमाणु कथंचित् अनित्य है। वा बन्धभेद पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा तथा गुणसंक्राति की अपेक्षा परमाणु अनित्य भी है।

निष्प्रदेशत्व पर्याय की विवक्षा से एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है, अनेक प्रदेशी स्कन्ध रूप परिणमन करने की शक्ति के कारण अनेक रस, अनेक वर्ण आदि वाला भी है।

कार्य लिङ्ग के अनुमेय होने के कारण स्यात् कार्य लिंग है और प्रत्यक्षज्ञान गोचरत्व पर्याय की

अपेक्षा कार्य लिङ्ग नहीं भी है। (रा.वा. १६)

१३. प्रश्न : परमाणु में मूर्त्त-अमूर्त्तत्व गुण किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : जो नय विशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त्त एवं कथंचित् अमूर्त्त है, चार धातु रूप स्कन्ध का कारण है और परिणमन-स्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए। (ति.प. १/१०१)

१४. प्रश्न : क्या ऐसे भी परमाणु हैं जो आज तक स्कन्ध नहीं बने हैं ?

उत्तर : अतीत काल में सर्व जीवों के द्वारा सर्व पुद्गलों का अनन्तवाँ भाग, सर्व जीवराशि से अनन्तगुणा और सर्व जीवराशि के उपरिम वर्ग से अनन्त-गुणहीन प्रमाण वाला पुद्गल पुंज भोगकर छोड़ा गया है। (अर्थात् शेष पुद्गलपुंज अनुपभुक्त हैं)।

अनादि काल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई अणु नहीं है। क्योंकि सूत्र (त.सू. ५/२७) में स्कन्ध भेद पूर्वक परमाणु की उत्पत्ति बताई है। (रा.वा. १०)

१५. प्रश्न : स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन (संघटना) होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। रूढ़ि में क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षण रूप से सर्वत्र ली जाती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापार के अयोग्य द्रव्यणुक आदिक में भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है। (सर्वा. ५७४)

सबसे बड़ा जो लोकरूप महास्कन्ध है वह स्कन्ध कहलाता है। (यो.सा. २/१९) जो बहुत परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कन्ध को स्कन्ध कहते हैं। (मू.प्र. १४७२)

१६. प्रश्न : स्कन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : स्कन्ध तीन प्रकार के होते हैं-

(१) स्कन्ध (२) स्कन्ध देश (३) स्कन्ध प्रदेश। (रा.वा. १७)

स्कन्ध के छह भेद हैं-

(१) अति स्थूल (२) स्थूल (३) स्थूल सूक्ष्म (४) सूक्ष्म स्थूल (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म सूक्ष्म (नि.सा. २१)

(१) बादर-बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। (पं.का.स. ७६)

१७. प्रश्न : अति स्थूल (बादर-बादर) स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पृथक् करने पर पृथक् हो जावे और मिलाने पर फिर न मिल सके, ऐसे पुद्गलस्कन्धों को अतिस्थूल कहते हैं, जैसे- पृथिवी आदि (म.पु. २४/१५३) जो स्थूल-स्थूल कोटि में आते हैं, पृथ्वी

उनमें अग्रगण्य है। उसके बाद पर्वत, वन, जलधर, स्वर्गों के विमान, पृथ्वी पर निर्मित भवन आदि के समान जितने भी पदार्थों को मनुष्य ने बनाया है अथवा प्रकृति के द्वारा ही बनाये या बन गये हैं ये सब स्थूल-स्थूल कहे जावेंगे। (व.चा. २६/१६)

काष्ठ-पाषाणादिक जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे बादर-बादर हैं। (पं.का.स. ७६)

१८. प्रश्न : स्थूल स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पतले द्रव्य पृथक् करने पर पृथक् हो जावें और मिलाने पर पुनः मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्धों को स्थूल कहते हैं, जैसे- घी, तेल, पानी आदि। (म.पु. २४/१५३)

दूध, घी, तेल, जल, रस आदि जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं वे बादर (स्कन्ध) हैं। (पं. का. स. ७६)

जिन द्रव्यों के आकार में तनुत्व (छोटापन) स्पष्ट है तथा जो छेदन करके बने हैं अथवा पीसने के बाद या पेलने से उत्पन्न हैं ऐसे तेल, पानी, घी, दूध तथा अन्य समस्त रसों को स्थूल पदार्थ कहा है। (व.चा. २६/१७)

१९. प्रश्न : स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नेत्रों से दिखाई तो देते हैं परन्तु संहरण नहीं किये जा सकते इसलिए विघात रहित हैं उन स्कन्धों को स्थूलसूक्ष्म कहते हैं जैसे- छाया, आतप आदि। (म.पु. २४/१५२) छाया, धूप, अंधकार, चाँदनी आदि जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा ग्रहण नहीं किया जा सकता वे बादर-सूक्ष्म हैं। (पं.का.स. ७६) संसार में ऐसे भी पदार्थ हैं जो आँखों से स्पष्ट दिखायी देते हैं। किन्तु स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रकाश में पड़ने वाली पदार्थों की छाया, सूर्य की धूप, अन्धकार, विद्युत् का प्रकाश, चन्द्रिका आदि पदार्थों को देखिये, वे सबके सब स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों की ही कोटि में आते हैं। (व.चा. २६/१८)

२०. प्रश्न : सूक्ष्मस्थूल स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नेत्रों से देखने में तो नहीं आते परन्तु अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ऐसे स्कन्धों को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं, जैसे स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श, रस आदि। (म.पु. २४/१५१) स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं वे 'सूक्ष्मबादर' हैं। (पं.का. स. ७६)

जो पदार्थ- शब्द, कोमल, कठोर आदि स्पर्श, मधुर, अम्ल आदि रस (स्वाद), गन्ध, शीत, उष्ण तथा वायु ऐसे पदार्थ आते हैं। इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे आँख देख सकती हो किन्तु अन्य इन्द्रियों को इनका साक्षात् अनुभव होता है। इस जाति के पदार्थों को ही सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं। (व.चा. २६/१९)

२१. प्रश्न : सूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्म वर्गणा रूप परिणामन करने के योग्य हैं ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं (ये इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नहीं जाने जाते मात्र कार्य द्वारा इनका ज्ञान होता है।) क्योंकि वे प्रदेशों के अनंत समुदाय रूप हैं। (म.पु. २४/१५०)

कर्मवर्गणादि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों, वे सूक्ष्म हैं। (पं.का.स.७६)

औदारिक, वैक्रियिक आदि पाँच प्रकार के शरीर होते हैं, इनकी उत्पत्ति में सहायक परमाणुओं को शास्त्रों में वर्गणा नाम दिया है। इसी विधि से मन तथा वचन जो कि दृश्य मूर्ति नहीं हैं, इनकी भी अलग-अलग वर्गणाएँ होती हैं, उक्त शरीरों तथा मन-वचन की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक वर्गणाओं के भीतर भी दूसरी वर्गणाएँ रहती हैं। इनके क्रम तथा कार्य समुचित रूप से व्यवस्थित हैं। इन समस्त वर्गणाओं को ही सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं, इनका प्रमाण अनन्तानन्त है। (व.चा. २६/२०-२१)

२२. प्रश्न : सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक अर्थात् स्कन्ध से पृथक् रहने वाला परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है। क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है। (म.पु. २४/१५०) कर्मवर्गणा नीचे के द्वि-अणुक स्कन्ध तक के जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' हैं। (पं. का. स. ७६)

एक परमाणु किसी दूसरे परमाणु में मिला नहीं रहता है। परमाणुओं में आपस में कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता है। एक-एक परमाणु को अलग-अलग बिखरा समझिये। इस आकार प्रकार के परमाणुओं को ही द्रव्य के विशेषज्ञों ने सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल नाम से कहा है। (व.चा. २६/२२)

२३. प्रश्न : 'अणवः स्कन्धाः' अणु और स्कन्ध दोनों में बहुवचन क्यों किया है ?

उत्तर : पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणु जाति और स्कन्ध जाति के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार पुद्गलों की इन दोनों जातियों के आधार-भूत अनन्त भेदों का सूचन करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। (सर्वा. ५७४) उभयत्र जाति की अपेक्षा बहुवचन है दोनों शब्दों में बहुवचन अणुत्व जाति और स्कन्ध जाति से संगृहीत होने वाले अनन्त भेदों की सूचना के लिए है। (रा.वा. ३)

२४. प्रश्न : 'अणुस्कन्धाः' इस प्रकार समास करके लघु सूत्र क्यों नहीं किया ?

उत्तर : यद्यपि सूत्र में अणु और स्कन्ध इन दोनों पदों को समास करके रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूप से जो कथन किया है वह इस सूत्र से पहले कहे गये दो सूत्रों के साथ अलग-अलग सम्बन्ध बताने के लिए किया है। जिससे यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले हैं तथा स्पर्शादि वाले भी हैं। (सर्वा. ५७४) यद्यपि 'अणुस्कन्धाः' यह सूत्र बन सकता था परन्तु पृथक् निर्देश पूर्वोक्त दो सूत्रों से पृथक्-पृथक् सम्बन्ध बनाने के लिए है कि स्पर्शादि वाले अणु

हैं और शब्द, बन्ध आदि पर्याय वाले स्कन्ध हैं।

‘अणुस्कन्धाः’ यह समास कर लेने पर समुदाय से अर्थत्व की मुख्यता हो जाने से और अवयवी अर्थ का अभाव होने से भेदपूर्वक उपर्युक्त सूत्रों के साथ सम्बन्ध लगाना शक्य नहीं होता अतः ‘अणुस्कन्धाः’ यह समास न करके ‘अणवः स्कन्धाः’ यह भेदरूप से वर्णन किया है। (रा.वा. ४)

२५. प्रश्न : अणु और स्कन्ध रूप लक्षण वाली पुद्गल की पर्यायें अनादि हैं कि सादि ?

उत्तर : वह अणु और स्कन्ध रूप पुद्गल की पर्याय उत्पन्न होती है अतः सादि जानी जाती है। (रा. वा. १७)

स्कन्धों की उत्पत्ति कहते हैं-

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६ ॥

भेद-संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ।

(भेदसंघातेभ्यः) भेद, संघात और भेदसंघात से (उत्पद्यन्ते) उत्पन्न होते हैं।

अर्थ - भेद, संघात और भेदसंघात से स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

भेद - संहतों (मिले हुए पदार्थों) का दो कारणों से विदारण होना भेद है।

संघात - विविक्त स्कन्धों को संघटित करना संघात है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि पुद्गल की परमाणु और स्कन्ध रूप पर्यायें उत्पन्न होने से सादिमान् हैं तो बताइये- वे पर्यायें किसके निमित्त से उत्पन्न होती हैं अतः स्कन्धों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. २६)

२. प्रश्न : भेद और संघात दो हैं अतः द्विवचन का ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : तीन का संग्रह करने के लिए सूत्र में बहु वचन का निर्देश किया है। जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेद से, संघात से और भेद-संघात, इन दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। (सर्वा. ५७६)

ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सूत्र में बहुवचन देने से ज्ञात होता है कि भेद पूर्वक संघात भी स्कन्ध की उत्पत्ति का स्वतंत्र कारण है इसलिए बहुवचन से भेद के साथ संघात का ग्रहण होता है।

(रा.वा.३)

३. प्रश्न : भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पाँच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणु का भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। द्वि-प्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणु के संघात से या तीन परमाणुओं के संघात से त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु या चार अणुओं के सम्बन्ध से एक चतुः प्रदेशी

स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के संघात से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक ही समय में भेद और संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, जैसे चार प्रदेशों में से दो प्रदेशी का भेद हो गया और उसी समय एक परमाणु का संघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। (रा.वा. ५)

४. प्रश्न : सूत्र में 'भेदसंघातेभ्यः' पंचमी विभक्ति का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'उत्' उपसर्ग पूर्वक पदि धातु उत्पत्ति-जन्म अर्थ में होती है। जैसे- 'उत्पद्यन्ते जायन्ते' उत्पन्न होते हैं, जन्म लेते हैं उसकी अपेक्षा यहाँ हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति है। "निमित्तकारण हेतुषु सर्वासां प्रायः दर्शनात्" निमित्त, कारण और हेतु में प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं, यह व्याकरण सूत्र है अतः भेदसंघात रूप हेतुओं/कारणों से स्कन्ध होते हैं। (रा.वा. ४-५)

अणु की उत्पत्ति का कारण कहते हैं-

भेदादणुः ॥२७॥

भेदात्-अणुः ।

(भेदात्) भेद से (अणुः) अणु की उत्पत्ति होती है।

अर्थ - भेद से अणु की उत्पत्ति होती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अब अणु की उत्पत्ति के हेतु को दिखाने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५७७) इस प्रकार पूर्वोक्त (५/२६) सूत्रानुसार अणु और स्कन्धों की उत्पत्ति का अविशेष (सामान्य) रूप से भेदादि हेतु का प्रसङ्ग होने पर विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. २७)

२. प्रश्न : सूत्र छब्बीस से ही अणु की उत्पत्ति का कारणभेद सिद्ध होता है अतः यह सूत्र व्यर्थ है ?

उत्तर : कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है। यद्यपि यह सिद्ध है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है फिर भी 'भेदादणुः' इस सूत्र को बनाने से यह नियम फलित होता है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। न संघात से होती है और न ही भेद और संघात इन दोनों से ही होती है। (सर्वा. ५७८)

सूत्र छब्बीस से स्कन्ध की उत्पत्ति सूचित होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है, फिर भी इस सूत्र की रचना से यह अवधारण किया जाता है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है, जैसे- कि 'अपो भक्षयति' में एवकार का अर्थ अवधारण आ जाता है क्योंकि ऐसा प्राणी नहीं है, जो पानी नहीं पीता हो परन्तु पानी पीता है, ऐसा कहने पर यह अवधारण हो जाता है कि यह पानी ही पीता है और कुछ नहीं खाता। उसी प्रकार भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कहने पर अणु भेद

से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हो जाता है तथापि पुनः 'भेदादणुः' यह सूत्र इस अवधारण के लिए बनाया गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है, न संघात से होती है और न भेद-संघात से। (रा.वा. १)

भेद-संघात से उत्पन्न स्कन्ध की विशेषता बताते हैं-

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

(भेदसंघाताभ्यां) भेद और संघात से (चाक्षुषः) चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

अर्थ - भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेद-संघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेदसंघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा. उ. २८)

२. प्रश्न : जो स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं होता वह चाक्षुष कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सूक्ष्म परिणत स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी सूक्ष्मता का परित्याग नहीं करने से वह स्कन्ध अचाक्षुष ही रहता है। सूक्ष्म परिणत पुनः दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है, तब वह स्कन्ध चाक्षुष हो जाता है। (रा.वा.)

द्रव्य का लक्षण कहते हैं -

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥

(द्रव्य लक्षणं) द्रव्य का लक्षण (सत्) सत् है।

अर्थ - द्रव्य का लक्षण सत् है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गति, स्थिति, अवगाहन, वर्तना, शरीरादि और परस्पररोपकारादि के द्वारा जिन धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अनुमान लगाया जाता है, वा पूर्व में उनका अनुमान से लक्षण किया गया है, उन्हें पहले द्रव्य कहा है। उन्हें द्रव्य क्यों कहते हैं ? उन्हें 'सत्' होने से द्रव्य कहते हैं। इस बात की सूचना के लिए यह सूत्र कहा है। (रा.वा. उ. २९)

२. प्रश्न : सत् किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, ऐसा पदार्थ बाह्य और आध्यात्मिक (अभ्यन्तर) निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है, वह सत् है। (रा.वा.)

३. प्रश्न : द्रव्य का आकार कैसा है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म द्रव्य लोकाकाश के समान आकार वाले हैं।

काल द्रव्य का आकाश के एकप्रदेश स्वरूप से आकार है। एक प्रदेश का आकार है, वही कालाणु

का आकार है।

आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है, लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से संस्थान है।

पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से संस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से संस्थान है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है, क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है। तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित है।

जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है। (मू. ५४९ आ.)

सत् क्या है ? उसे कहते हैं-

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३० ॥

(उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं) जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त हो, वह (सत्) सत् है।

अर्थ - जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त हो वह सत् है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : धर्मादि को 'सत्' होने से द्रव्य समझ लिया था। अतः बताइए कि वह 'सत्' क्या है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३०)

२. प्रश्न : उत्पाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनकी अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रति समय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे- मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। (सर्वा. ५८४) चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति-उत्पादन है, वह उत्पाद है। जैसे- मृत्पिण्ड में घट पर्याय। (रा.वा. १)

उत्तर भाव का प्रादुर्भाव है सो उत्पाद है। (पं. का. स. १०)

३. प्रश्न : उत्पाद कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : उत्पाद दो प्रकार का होता है - प्रायोगिक और वैस्रसिक।

(१) प्रायोगिक उत्पाद : जो प्रयोगजनित होता है, कृत्रिम है, वह प्रायोगिक है, जो प्रायोगिक उत्पाद होता है वह उपयोग की सहायता से सापेक्ष समुदाय में होता है तथा वह अपरिशुद्ध होता है।

(२) वैस्रसिक उत्पाद : जो बिना प्रयोग के उत्पाद होता है वह वैस्रसिक है, उल्कापात आदि। यह स्वाभाविक अर्थात् वैस्रसिक स्कन्ध रूप उत्पाद समुदाय की भाँति अपरिशुद्ध होता है। किन्तु दो परमाणुओं के स्कन्ध विभाजन से यदि कार्य लिंग रूप अणु उत्पन्न होता है तो वह शुद्ध ही होता है। आकाश, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य में जो शुद्ध रूप से उत्पाद होता है वह पर प्रत्यय (कारण) से (कालादि के निमित्त से) नियम से होता है। (स.सू. ३/३२-३४)

४. प्रश्न : व्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है, वह व्यय है जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है। (रा.वा. २)

एक जाति का अविरोधक ऐसा जो क्रमभावी भावों का प्रवाह उसमें पूर्वभाव का विनाश सो व्यय है। (पं.का.स. १०)

५. प्रश्न : व्यय (नाश) कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : व्यय/नाश भी उत्पाद की तरह दो प्रकार का होता है - (१) स्वाभाविक (वैस्रसिक) व्यय (२) प्रायोगिक व्यय।

समुदाय में होने वाला नाश समुदाय के विभाग रूप होता है। अथवा उसी के परिणाम रूप होता है जो स्कन्ध से टूटकर स्कन्ध होता है वह अपरिशुद्ध ही होता है। स्कन्ध के नाश से परमाणु का उत्पाद शुद्ध रूप में होता है। (स.सू. ३/३३-३६)

६. प्रश्न : ध्रौव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। तथा इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे- मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। (सर्वा. ५८४)

पूर्व-उत्तर भावों के व्यय-उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग सो ध्रौव्य है। (पं.का.स.१०)

ध्रुवस्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। द्रव्य ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भाव या कर्म है वह ध्रौव्य कहलाता है, जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदूरूपता का अन्वय रहता है। (रा.वा. ३)

७. प्रश्न : द्रव्य उत्पाद-व्यय से भिन्न है या अभिन्न ?

उत्तर : द्रव्य कथंचित् उत्पाद, व्यय से भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है क्योंकि व्यय और उत्पाद के समय में द्रव्य स्थिर रहता है अतः उत्पाद व्यय द्रव्य से भिन्न है, उत्पाद और व्यय भी द्रव्य जाति का त्याग नहीं करते अतः उत्पाद-व्यय द्रव्य से अभिन्न है।

यदि उत्पाद-व्यय द्रव्य से सर्वथा भिन्न होते तो द्रव्य के बिना भी उनकी उपलब्धि होती या द्रव्य से पृथक् मिलते और सर्वथा अभेद मानने पर एक लक्षण होने से एक के अभाव में शेष के अभाव का प्रसंग आयेगा। (रा.वा.९) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-जो कि सामान्य आदेश से अभिन्न हैं एवं विशेष आदेश से भिन्न है। (पं.का.स. १०)

८. प्रश्न : जो उत्पाद-व्यय से युक्त होता है वह ध्रौव्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर : द्रव्य में अवस्था भेद होने से ये (उत्पादादि) तीनों धर्म माने गये हैं जैसे- घट का इच्छुक

घट का नाश होने पर दुःखी होता है, मुकुट का इच्छुक मुकुट का उत्पाद होने पर हर्षित होता है, स्वर्ण का इच्छुक न दुःखी होता है न हर्षित। वह मध्यस्थ रहता है। इस प्रकार एक ही समय में दुःख, हर्ष और माध्यस्थ भाव बिना कारण नहीं बन सकते। जिसके दूध लेने का व्रत है, आज मैं दूध ही लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही लेने का व्रत है, वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेने का व्रत है, वह दूध, दही दोनों ही नहीं खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय युक्त होते हुए भी ध्रौव्य है। (आ.मी. ५९)

९. प्रश्न : उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य द्रव्य से अर्थान्तरभूत है कि अनर्थान्तर है ?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्य के अन्यत्व तथा अनन्यत्व के प्रति अनेकान्त है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप पर्यायें तथा पर्यायी द्रव्य में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। जैसे- जाति, कुल रूपादि के द्वारा अन्वयधर्मी मनुष्य के अनेक सम्बन्धियों की दृष्टि से उत्पन्न पिता-पुत्र, भ्राता-भानजा आदि परस्पर विलक्षण धर्म उपलब्ध होते हैं तथापि विशिष्ट धर्मों के भेद से उनमें भेद नहीं है और न उनमें मनुष्य जाति की अपेक्षा अभेद होने से सर्वथा अभेद है। अतः पिता, पुत्र, भानजा आदि शक्ति की अपेक्षा मनुष्य होने पर भी भिन्न है और मनुष्य सामान्यत्व की अपेक्षा भिन्न नहीं है। मामा, पिता, भानजा आदि में मनुष्यत्व का अभाव नहीं है, उसी प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर कारणों से उत्पन्न होने वाली द्रव्य की पर्यायें द्रव्य से कथञ्चित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भिन्न है और द्रव्य दृष्टि से अवस्थान होने से कथञ्चित् अभिन्न है अतः न तो असत्त्व है और न लक्ष्य-लक्षण भाव का अभाव ही है। इसलिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों की ऐक्यवृत्ति (एकता) ही सत्ता है और वही द्रव्य है। ऐसा जानना चाहिए। (रा.वा. ११)

द्रव्यों को (उत्पाद आदि से) कथञ्चित् अर्थान्तर और कथञ्चित् अनर्थान्तर रूप जानना चाहिए। जिसके जिस ओर से प्रसार का काल है उस ओर से वह आकुंचन का काल नहीं है। जो आकुंचन के नाश का काल है वह प्रसार का काल है तथा जो पैर के पसारने का काल है वह पैर के आकुंचन (संकोच) के नाश का काल है। जो पैर के आकुंचन का काल है वह उसके प्रसार का काल नहीं है। (स.सू. ३/३५-३६)

१०. प्रश्न : क्या एक द्रव्य के एक ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं?

उत्तर : नहीं, एक समय में एक द्रव्य के बहुत से उत्पाद होते हैं तथा जितने उत्पाद होते हैं, उतने पूर्व पर्यायों के विनाश भी होते हैं। तथा पूर्वोत्तर अवस्थाओं में स्थायी रूप से रहने वाले ध्रुव धर्मरूप गुण या स्थायी व्यंजन पर्याय भी उतने ही होते हैं। अर्थ पर्याय अर्थक्रिया की अपेक्षा से प्रतिसमय नष्ट होने वाले भी उतने होते हैं। यह उत्सर्ग-सामान्य नियम है। विशेष की अपेक्षा एक स्कन्ध रूप घट के नाश से अनेक कपाल एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। जीव मन, वचन और काय से जैसी क्रिया देखता है वैसा ज्ञान में जाननरूप से परिवर्तन होता है। जैसे-जैसे रूपादि को जानता है, वैसे-वैसे ज्ञान में भी परिवर्तन पाया जाता है। संयोग-वियोग से भी जीवादिक में भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पाद दिखाई देते हैं। (स.सू. ३/४१-४२)

११. प्रश्न : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एकसमयवर्ती हैं या भिन्न समयवर्ती?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों एक समय में भी होने वाले पाये जाते हैं और भिन्न काल

में होने वाले भी पाये जाते हैं। प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और वर्तमान पर्याय का उत्पाद तथा पूर्व पर्याय सामान्य रूपगुण सदा प्रदेशों की अपेक्षा ध्रुव रूप है। स्कन्ध में भी ये तीनों प्रतिसमय होते रहते हैं। किन्तु स्कन्धों में होने वाले उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य भिन्नकालवर्ती भी होते हैं जैसे मिट्टी के पिण्ड से घड़े का उत्पाद किसी अन्य काल में होता है तथा उस घट के फूटने (नाश होने) का काल भिन्न है तथा घट की ध्रौव्यता का काल सामान्य अपेक्षा से उत्पाद और नाश के मध्य का है। (स.सू. ३/३५-३६)

१२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सत्' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'सत्' शब्द अनेकार्थवाची है। जैसे - सत् पुरुष अर्थात् प्रशंसनीय पुरुष। सत्कार अर्थात् आदर। सद्भूत अर्थात् अस्तित्व विद्यमान। प्रव्रजितः सन् अर्थात् दीक्षित होकर यहाँ प्रतिज्ञा अर्थ में 'सत्' शब्द है। सूत्र में 'सत्' शब्द अस्तित्व अर्थ से विवक्षित है। (रा.वा. ८)

१३. प्रश्न : सिद्धों में उत्पाद-व्यय किस अपेक्षा होता है ?

उत्तर : आगम में कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप से अर्थपर्याय होती है, उनकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद-व्यय होता है। अथवा - ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से प्रतिसमय परिणमते है उन- उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है, इस कारण भी सिद्धों में उत्पाद-व्यय घटित होता है। अथवा - सिद्धों में व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव ध्रौव्यपने से ध्रौव्य है। (वृ.द्र.सं.टी. १४)

१४. प्रश्न : द्रव्य और उत्पादादि में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि ये द्रव्य के लक्षण हैं ?

उत्तर : उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य के लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पादादि आपस में तथा द्रव्य से पृथक्-पृथक् है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पृथक्-पृथक् उपलब्ध न होने से अभिन्न है, इस प्रकार उत्पादादि लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है। (सर्वा. ५८४)

१५. प्रश्न : उत्पाद-व्यय किसमें होता है ?

उत्तर : सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय तथा उत्पाद करती है। (त.सा. ३/१३)

नित्य का लक्षण कहते हैं-

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥

तद्-भाव-अव्ययं-नित्यम् ।

(तद्भाव) स्वभाव का (अव्ययं) च्युत न होना (नित्यं) नित्य है।

अर्थ - तद्भाव से च्युत नहीं होने को नित्य कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये हैं। वहाँ यह नहीं ज्ञात होता है कि नित्य

क्या है, इसलिए यह सूत्र कहा है। (सर्वा. ५८५)

२. प्रश्न : तद्भाव कौन से ज्ञान का हेतु है ?

उत्तर : तद्भाव प्रत्यभिज्ञान का हेतु है 'यह वही है' इस प्रकार का स्मरण प्रत्यभिज्ञान है। जिस स्वरूप में वस्तु को पहले देखा था उसी रूप में पुनः देखने पर 'तदेवेदम्' यह वही है ऐसा ज्ञान एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषयक और निर्हेतुक नहीं होता है अतः इस प्रत्यभिज्ञान में जो कारण है वह तद्भाव है। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : तद्भाव का व्यय नहीं होना नित्य है तो द्रव्य कूटस्थ हो जायेगा ?

उत्तर : तद्भाव (द्रव्य के स्वरूप) का व्यय नहीं होते हुए भी वह कथंचित् नित्य है सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा नित्य मानने पर कूटस्थ अर्थात् अर्थ-क्रिया रहित होने का प्रसंग आयेगा तथा अर्थक्रिया से रहित वस्तु खर विषाण के समान 'सत्' नहीं हो सकती है। (श्लो. ६/३६०)

एक पदार्थ में दो विरोधी धर्म कैसे रहते हैं सो बताते हैं-

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥३२॥

अर्पित-अनर्पित-सिद्धेः ।

वस्तु की (अर्पित) विवक्षा और (अनर्पित) अविवक्षा से (सिद्धेः) उन दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

अर्थ - मुख्य और गौण की विवक्षा से दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

अर्पित - अनेक धर्मात्मक वस्तु में से प्रयोजनवश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है वह अर्पित है।

अनर्पित - प्रयोजन (वक्ता की इच्छा) का अभाव होने से विद्यमान धर्मों की अविवक्षा होती है वह अनर्पित है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उत्पाद और व्यय वाली पर्यायों में अव्यभिचारी रूप से रहने वाले ध्रौव्य की श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में किसी एक की विवक्षा के वश से नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों एक साथ रह सकते हैं, उसका वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ.३२) उसी को नित्य कहना और उसी को अनित्य कहना यही विरुद्ध है। यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद नहीं होने से उसमें अनित्यता नहीं बनती। और यदि अनित्य है तो स्थिति का अभाव होने से नित्यता का व्याघात होता है, ऐसी आशंका होने पर 'नित्यता और अनित्यता का एक साथ रहना विरुद्ध नहीं है' इसे बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५८७)

२. प्रश्न : एक ही पदार्थ में नित्यपने की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : अर्पित (विवक्षा) एवं अनर्पित (अविवक्षा) की अपेक्षा एक ही पदार्थ में दोनों धर्मों की सिद्धि होती है। जैसे- जब मृत्पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप में अर्पित (विवक्षित) होता है तब वह नित्य है क्योंकि वह मृत्पिण्ड कभी भी रूपित्व वा द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता है। जब अनेक धर्म रूप से परिणमन करने वाले इस मृत्पिण्ड की धर्मान्तर (अन्य धर्मों की) से विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल मृत्पिण्ड रूप पर्याय की विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है क्योंकि उसकी वह पर्याय अध्रुव है अनित्य ही है। (रा.वा.२)

३. प्रश्न : केवल एक नय की विषयभूत वस्तु मानने पर क्या हानि है ?

उत्तर : यदि केवल द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत वस्तु मानी जाय तो व्यवहार का लोप हो जाएगा क्योंकि पर्यायशून्य केवल द्रव्य रूप वस्तु का अभाव है। यदि वस्तु केवल पर्यायार्थिक नय के गोचर ही मानी जाती है तो लोकयात्रा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि द्रव्य से रहित पर्यायमात्र वस्तु का अभाव है, उभयात्मक वस्तु ही लोकयात्रा कराने में समर्थ है अतः उभयात्मक वस्तु की प्रसिद्धि है। (रा.वा. २)

४. प्रश्न : प्रमाण ज्ञान से वस्तु का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से विचार किया जाय तो वस्तु में नित्यपने और अनित्यपने दोनों से तीसरी ही जाति का नित्यानित्यपना प्रतीत होता है अतः प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में आने वाली वस्तु में उभय दोष का प्रसंग नहीं आता है। (श्लो. ६/३६३)

बन्धविधि

बन्ध की योग्यता बताते हैं-

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

(स्निग्धरूक्षत्वाद्) स्निग्धता एवं रूक्षता से (बन्धः) बन्ध होता है।

अर्थ - स्निग्धता और रूक्षता से बन्ध होता है।

स्निग्धत्व - चिकनेपन की पर्याय को स्निग्धत्व कहते हैं।

रूक्षत्व - रूक्षपन की पर्याय को रूक्षत्व कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : क्या संयोग से ही दो अणु आदि लक्षण वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है? अथवा - इस दो अणु आदि स्कन्ध की उत्पत्ति में और कोई विशेषता है? यदि परमाणु के परस्पर संयोग होने पर बन्ध से एकत्व परिणत रूप स्कन्ध उत्पन्न होता है तो यहाँ यह बताइए कि पुद्गल जाति समान होने पर वा पुद्गल जाति को नहीं छोड़ने पर भी और संयोग होने पर भी किन्हीं परमाणुओं का बन्ध होता है और किन्हीं अन्य का नहीं, ऐसा क्यों है? इस शंका का समाधान है कि उन परमाणुओं में पुद्गलपने की अपेक्षा अविशेषता होने पर भी अनन्त पर्यायों की अपेक्षा परस्पर विलक्षणता होने से परिणमन और परिणामक की योग्यता

होने पर ही बन्ध होता है, अन्य का नहीं। उस योग्यता को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ.३३) इस सूत्र में अन्य मतावलम्बियों की मान्यता का खण्डन किया गया है अर्थात् अन्य मतावलम्बी न तो बन्ध मानते हैं और न स्कन्ध को स्वीकार करते हैं; इस सूत्र से उस बन्ध के और स्कन्ध के अभाव को ध्वस्त कर दिया गया है। (श्लो. ६/३६९)

२. प्रश्न : स्निग्धत्व और रूक्षत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : बाह्य-अभ्यन्तर कारणों के कारण स्नेह पर्याय की प्रकटता से जो चिकनापना है वह स्नेह है। (रा.वा. १)

बाह्य-अभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उसमें पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति “स्निह्यते स्मेति स्निग्धः” होगी। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है। (सर्वा. ५९०)

चिकनेपन से विपरीत रूक्षत्व गुण है। (रा.वा. २)

रूखेपन के कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व कहलाता है। (सर्वा.५९०)

३. प्रश्न : क्या स्निग्धत्व एवं रूक्षत्व कल्पित हैं ?

उत्तर : नहीं, पुद्गल द्रव्य के स्पर्श गुण की पर्याय विशेष होने से स्निग्ध और रूक्षगुण (अवस्था) की सिद्धि होती है। जैसे- दाह, ताप, गर्मी और पसीना आदि क्रियायें देखी जाती हैं तथा शीत से जल का जमकर बर्फ रूप तथा तप्त (तरल) लोहा, सोना आदि धातुओं का ठोस रूप होना अनुभव में आता है उसी प्रकार से बकरी, गाय, भैंस, ऊँटनी के दूध और घृत में उत्तरोत्तर स्निग्धता तथा रेत, बजरी, बालू आदि में बढ़ती हुई रूक्षता स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में आती है। इसलिए स्निग्धता के अभाव मात्र को रूक्षता मानने वाले की मान्यता ठीक नहीं है। अतः स्निग्ध और रूक्ष गुण काल्पनिक नहीं हैं, वास्तविक हैं। (श्लो. ६/३६६)

४. प्रश्न : स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के कितने विकल्प हैं ?

उत्तर : एक गुण को आदि लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प स्निग्ध गुण के हैं। अविभागी परिच्छेद एक गुण वाला स्नेह सर्व-जघन्य है, प्रथम है। जिस प्रकार स्निग्ध गुण के विकल्प कहे हैं, उसी प्रकार रूक्ष गुण के भी एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प परिच्छेद जानने चाहिए। (रा.वा. ३-४)

५. प्रश्न : परमाणु में स्निग्ध और रूक्ष गुणों का अनुमान कैसे होता है ?

उत्तर : जल से बकरी के दूध में, बकरी के दूध से गाय के दूध में स्निग्धता की अधिकता एवं धूलि से अधिक रूखापना तुषखण्ड में, उससे भी अधिक रूक्षता रेत में पायी जाती है। इस प्रकार स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के प्रकर्षापकर्ष के देखने से परमाणु में भी स्निग्ध-रूक्षता का अनुमान लगाया जाता है। (रा.वा.५)

किसका बन्ध नहीं होता सो कहते हैं-

न जघन्यगुणानाम् ॥३४ ॥

(जघन्यगुणानां) जघन्य गुण वालों का (न) बन्ध नहीं होता है।

अर्थ - जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण बन्ध होने पर अविशेष से बन्ध होने का प्रसंग आता है उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३४) स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण के निमित्त से सामान्य से बन्ध के प्राप्त होने पर बन्ध में अनिष्ट (अप्रयोजनभूत) गुण का निराकरण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५९१)

२. प्रश्न : जघन्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : शाखादित्व और देहांगत्व (देह-अंगत्व) के समान जघन्य शब्द की सिद्धि होती है। जघन के समान जघन्य है। जैसे- शरीर में जघन (जंघा) सबसे निकृष्ट है उसी प्रकार अन्य वस्तु निकृष्ट है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देह के अङ्गत्व में जघन (जंघा) में होने वाला जघन्य कहलाता है, उस जघन्य के समान जघन्य है, उसी प्रकार जघन की तरह निकृष्ट अवयव को निकृष्ट या जघन्य कहते हैं। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'गुण' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : गुण शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है- जैसे- कहीं गुण शब्द रूपादि अर्थ में है जैसे- रूपादि गुण। कहीं गुण शब्द उपकार अर्थ में होता है जैसे- गुणज्ञ साधु। कहीं गुण शब्द द्रव्य अर्थ में है जैसे- यह देश गुणवान् है। इसी प्रकार अवयवादि अनेक अर्थों में होता है लेकिन यहाँ 'गुण' शब्द 'भाग' अर्थ में विवक्षित है, जघन्य गुण जिस परमाणु में है वह जघन्य गुण कहलाता है।^१ (रा.वा. २)

४. प्रश्न : प्रकृत में जघन्यगुण से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर : यहाँ गुण शब्द भाग अर्थ में विवक्षित है। जिनके जघन्य गुण होते हैं वे जघन्य गुण कहलाते हैं। (रा.वा.२)

एक गुण से जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है जो अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न है। उसके ऊपर एक आदि अविभागी प्रतिच्छेदों की वृद्धि होने पर गुणों की द्वितीयादि अवस्था विशेषों की द्वितीय गुण तृतीय गुण आदि संज्ञा होती है। (ध. १४/४५०-५१)

५. प्रश्न : यह कैसे जाना जाता है कि एक जघन्य गुण अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से निष्पन्न है ?

उत्तर : 'वह अनन्त विस्रसोपचयों से उपचित हैं,' यह सूत्र अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है। (ध. १४/४५०)

६. प्रश्न : जघन्य गुण वाले परमाणु की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

उत्तर : जिस प्रकार ऊँटनी, भैंस, गाय और बकरी के दूध में चिकनापन क्रमशः हीन-हीन देखा जाता है और महा परिणाम वाले आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, स्वयंभूरमण समुद्र, घट, बेर, पोस्त में परिमाण की न्यूनता होते-होते सबसे छोटा परमाणु प्राप्त होता है उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभाग प्रतिच्छेदों में न्यूनता होते-होते जघन्य गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार प्रकर्षता होते-होते उत्कृष्ट गुणों की सिद्धि भी होती है। (श्लो. ६/३७६-७७)

७. प्रश्न : क्या जिन परमाणुओं का बन्ध होता है उनका सदा बन्ध तथा जिनका बन्ध नहीं होता उनका सदा अबन्ध ही रहता है ?

उत्तर : नहीं, जिन परमाणुओं का पहले कारण नहीं मिलने से बन्ध प्राप्त नहीं हुआ, उन्हीं परमाणुओं का कारण मिलने पर बन्ध देखा जाता है और बन्ध वाले परमाणुओं का भी भेदक कारण उपस्थित हो जाने पर और पुनः द्व्यधिक गुण सहितपन की योग्यता नहीं मिलने पर अबन्ध अवस्था में सद्भाव देखा जाता है अतः सर्वथा एकान्त मान्यता नहीं कहना चाहिए। (श्लो. ६/३८३)

८. प्रश्न : परमाणु कल्पित है या वास्तविक ?

उत्तर : परमाणु काल्पनिक नहीं है, वस्तुभूत है। आगम में पुद्गल के छह भेद बताये हैं जिनका वर्णन (५/२५) में किया है। उनमें से सूक्ष्म को छोड़कर पाँच तो स्कन्ध के भेद हैं और एक परमाणु को कल्पित मानने पर उसके संयोग से बने हुए स्कन्ध को कल्पित मानना पड़ेगा जो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित होगा। अतः आगम प्रमाण से परमाणु की सिद्धि होती है। (श्लो. ६/३७९)

बन्ध के अयोग्य परमाणुओं को कहते हैं-

गुणसाम्ये सदृशानाम् । ३५ ॥

(गुणसाम्ये) गुण की समानता होने पर (सदृशानां) सदृश गुण वालों का भी बंध नहीं होता है।

अर्थ - गुणों की समानता रहने पर सदृश गुण वालों का भी बन्ध नहीं होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पूर्वोक्त जघन्य स्निग्ध और रूक्ष गुणों को छोड़कर शेष स्निग्ध और रूक्ष गुणों का परस्पर बन्ध हो जायेगा। इस प्रकार अविशेषता से परस्पर परमाणुओं के बन्ध का प्रसंग आने पर उनके निषेध विशेष का प्रख्यापन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३५) जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यंशवालों के सिवाय अन्य स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध सामान्य रीति से प्राप्त हुआ, इसलिए इनमें भी जो बन्ध योग्य नहीं हैं वे प्रतिषेध के विषय हैं, यह बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५९३)

२. प्रश्न : सूत्र में 'सदृश' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : इस सूत्र में सदृश का ग्रहण तुल्यजातीय परमाणुओं के ज्ञान के लिए है। स्निग्ध जाति और रूक्ष जाति से तुल्य परमाणुओं का ज्ञान कैसे होता है इसलिए सदृश का ग्रहण किया गया है। (रा.वा.१)

शक्त्यंशों की असमानता के रहते हुए बन्ध होता है इसका ज्ञान कराने के लिए सूत्र में सदृश पद ग्रहण किया है। (सर्वा. ५९४)

गुणों की विषमता होने पर सदृशों का बन्ध हो सकता है इस बात को बताने हेतु सदृश शब्द का ग्रहण किया है। (रा.वा. ५)

३. प्रश्न : सूत्र में 'सदृश' पद निरर्थक है क्योंकि गुणसाम्य वचन से ही अर्थसिद्धि हो जाती है ?

उत्तर : गुणसाम्य पद के ग्रहण से सदृश का ग्रहण निरर्थक नहीं है, क्योंकि यदि सदृश ग्रहण नहीं करते तो द्विगुण स्निग्धों का द्विगुण रूक्षों के साथ, त्रिगुण स्निग्धों का त्रिगुण रूक्षों से गुणाकार साम्य होने के कारण बन्ध का निषेध हो जाता। अर्थात् त्रिगुण रूक्ष और तीन स्निग्ध या रूक्ष गुण साम्य होने पर भी उनका बन्ध नहीं होता, पुनः सदृश ग्रहण करने से द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण स्निग्ध के साथ और द्विगुण रूक्ष का द्विगुण रूक्षों के साथ बन्ध निषेध हो जाता है।^१ (रा.वा. ३)

बन्ध की इष्ट व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं-

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६ ॥

द्वि-अधिक-आदि-गुणानां तु ।

(द्व्यधिकादि) दो अधिक आदि (गुणानां तु) गुण वालों का बन्ध होता है।

अर्थ - दो अधिक गुण वालों का बन्ध होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : विषम गुण वालों का और तुल्य जाति वालों का सामान्य रूप से बन्ध का प्रसंग होने पर इष्ट व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३६)

पूर्वोक्त कथन से समान जातीय या असमान जातीय विषम शक्त्यंशवालों का अनियम से बन्ध प्राप्त हुआ, अतः इष्ट अर्थ का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ५९५)

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तु' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'तु' शब्द विशेषणपरक है जिससे बन्ध के प्रतिषेध का निवारण और बन्ध का विधान होता है। (सर्वा. ५९६)

सूत्र में 'तु' शब्द व्यावृत्ति विशेष की प्रतिपत्ति के लिए है। सूत्र में 'तु' शब्द का ग्रहण बन्ध-प्रतिषेध के प्रकरण को व्यावृत्त करता है और बन्ध की इष्ट व्यवस्था को सूचित करता है। (रा.वा. ३)

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये -द्व्यधिकादि' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : दो अधिक गुण आदि में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। प्रकार क्या है ? दो से अधिकता इससे पञ्च आदि का संप्रत्यय होता है, अवयव के विग्रह और समुदाय वृत्ति का अर्थ है। अर्थात् एक अंश से समुदाय का ज्ञान हो जाता है, दो अधिक आदि कहने से चार गुण का भी ग्रहण हो जाता है अतः तुल्य जाति हो वा अतुल्य जाति हो, दो अधिक गुण वाले पुद्गल का ही परस्पर बन्ध होता है अन्य गुणवालों का नहीं। जैसे-

दो स्निग्ध गुण वाले परमाणु का एक स्निग्ध, दो स्निग्ध और तीन स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ ही दो स्निग्ध गुण वाले का बन्ध होगा। इसी प्रकार दो-गुण स्निग्ध परमाणु का पाँच, छह, सात, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध गुण वाले के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध वाले का पाँच गुण स्निग्ध के वा रूक्ष के साथ बन्ध होगा; छह, सात आदि उत्तर वाले के साथ और एक, दो आदि पूर्व वाले के साथ बन्ध नहीं होगा अर्थात् तीन गुण वाले का न तो एक के साथ बन्ध होगा और न छह सात आदि गुण वाले के साथ बन्ध होगा अपितु तीन गुण वाले का पाँच गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा।

इसी प्रकार चार गुण स्निग्ध वाले का छह गुण स्निग्ध वाले के साथ बन्ध होगा, तीन-सात आदि आगे-पीछे गुण वालों से नहीं। इसी प्रकार दो गुण रूक्ष वाले का एक, दो, तीन गुण वाले और पाँच, छह, रूक्ष वा स्निग्ध गुण वालों के साथ बन्ध नहीं होगा अपितु चार गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा। इस प्रकार तीन गुण रूक्ष आदि में भी दो गुण अधिक का ही बन्ध लेना चाहिए न्यूनाधिक से नहीं। इस प्रकार भिन्न जातियों में भी दो गुण स्निग्ध का एक, दो, तीन गुण रूक्ष से बन्ध नहीं होता है तथा उत्तर वाले पाँच, छह आदि रूक्ष गुण से बन्ध नहीं है परन्तु चतुर्गुण रूक्ष वाले से ही बन्ध होता है। इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष वाले का पाँच गुण रूक्ष या पाँच गुण स्निग्ध से ही बन्ध होता है चार या छह आदि आगे-पीछे के गुण वालों से नहीं। (रा.वा.२)

४. प्रश्न : समबन्ध एवं विषम बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्निग्ध का स्निग्ध परमाणु के साथ और रूक्ष का रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होना समजातीय बन्ध है।

स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष का स्निग्ध के साथ बन्ध होना विजातीय विषम बन्ध है। (श्लो. ६/३८७)

५. प्रश्न : यह सूत्र बन्ध के विषय में उत्सर्ग रूप है या अपवाद रूप ?

उत्तर : यह सूत्र बन्ध के विषय में अपवादों से रहित होता हुआ बन्धविषय के निर्णीत सिद्धान्तों

को कहने वाला है। पूर्व में कहा गया “स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः” यह बन्ध के विषय में उत्सर्ग सूत्र है और ‘न जघन्य गुणानाम्’ और ‘गुणसाम्ये सदृशानाम्’ ये दो अपवाद सूत्र हैं। (श्लो. ६/३८७)

बन्ध होने पर होने वाली विशेषता कहते हैं-

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

(बन्धेऽधिकौ) बन्ध होने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को (पारिणामिकौ) अपने रूप परिणामन करा लेता है।

अर्थ - बन्ध होने पर अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणामन करा लेता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अधिक गुण वाले के साथ बन्ध होता है, ऐसा क्यों कहा, समगुण वाले के साथ बन्ध होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा ? इसी बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है।^१ (सर्वा. ५९७)

संयोग होने पर भी प्राप्ति मात्र (समुदाय मात्र) से कृतार्थत्व हो जाने से परस्पर अनुप्रवेश में निरुत्सुक स्निग्ध-रूक्ष-गुण स्कन्ध-परमाणुओं का संयोग मात्र होने से वे पारिणामिक नहीं हो सकते। स्निग्ध-रूक्ष गुण की शुक्ल और कृष्ण तन्तु के समान यदि मात्र प्राप्ति ही है, उनमें एक-दूसरे की पारिणामिकता नहीं है तो वह बन्ध नहीं कहा जा सकता, अतः उस पारिणामिकता का नियम बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३७)

२. प्रश्न : पारिणामिकत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : गीले गुड़ की तरह अवस्थान्तर उत्पन्न करना पारिणामिकत्व है। जैसे- अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुररस वाला बनाने के कारण धूलि का परिणामक है, उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु न्यून गुण वाले परमाणुओं का परिणामक होता है। अर्थात् दो गुण स्निग्ध वा रूक्ष वाले परमाणुओं को चार गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु परिणामक होते हैं। (रा.वा.२)

३. प्रश्न : यहाँ बन्ध की चर्चा का प्रारम्भ किसलिए किया गया है ?

उत्तर : यहाँ बन्ध की चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि आत्मा के योग व्यापार के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में विस्त्रसोपचित अनन्तानन्त प्रदेशी स्निग्ध और रूक्ष से परिणत पौद्गलिक कर्मबन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। उस परिणामक से अपादित परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म भाव से परिणत पौद्गलिक कर्म तीस कोटाकोटि सागर आदि तक की स्थिति तक घन परिणामी बन्ध को प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते। (रा. वा. ५)

४. प्रश्न : क्या दो गुण वाले और चार गुण अवस्था वाले स्कन्ध का व्यय होकर नया स्कन्ध उत्पन्न होता है ?

उत्तर : हाँ, जिस प्रकार शुक्ल और पीत रंग के मिलने पर हरे रंग के पत्र आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार दो गुण वाली और चार गुण वाली जो अवस्थाएँ थी उनका व्यय होकर तीसरी छह गुण अवस्था वाला स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। (रा. वा. २)

५. प्रश्न : सूत्र में 'गुण' शब्द नहीं है अतः कैसे जाना जाता है कि अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणमाता है ?

उत्तर : प्रकरण होने से गुणों का ज्ञान होता है। यहाँ गुणों का प्रकरण है अतः 'अधिकौ' का अर्थ अधिक गुण वाले परमाणु होता है। (रा. वा. १)

शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से यहाँ अनुवृत्ति कर लेना चाहिए। 'अर्थवशात् विभक्तिवचनपरिणामः' अर्थ के वश से विभक्ति और वचन का परिवर्तन कर लिया जाता है। अतः षष्ठी बहुवचनान्त 'गुणानां' इस पद को प्रथमा द्विवचनान्त 'गुणौ' इस रूप से परिणत कर लिया जाता है। (श्लो. ६/३८८)

६. प्रश्न : अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप कैसे परिणमन करा लेता है ?

उत्तर : जिस प्रकार अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुर रस वाला बनाने से धूलि का परिणामक होता है उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला कम गुण वाले को अपने रूप परिणमन कराने वाला होता है। (रा. वा. २)

द्रव्य का लक्षण कहते हैं-

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८ ॥

(गुणपर्ययवद्) गुण और पर्याय वाला (द्रव्यं) द्रव्य होता है।

अर्थ - गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : आपने 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' इन दो सूत्रों में द्रव्य का नाम निर्देश किया है तो उन द्रव्यों की प्रसिद्धि निर्देश मात्र से है कि लक्षण से ? द्रव्यों की प्रसिद्धि लक्षण से भी है। लक्षण से प्रसिद्धि कैसे है ? ऐसी पृच्छा होने पर यह सूत्र कहा गया है। (रा. वा. उ. ३८)

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस प्रकार द्रव्य का लक्षण कहा किन्तु अब अन्य प्रकार से द्रव्य के लक्षण का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा है। (सर्वा. ५९९)

२. प्रश्न : गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। (सर्वा. ६००)

जो द्रव्य को द्रव्यान्तर से पृथक् करता है सो गुण है। (आ. प. ९३)

जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त कर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि हैं। (न्या. दी. ३/७८)

सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं। (त.सा. ३/१०)

द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। (प्र.सा.त. १३०)

अन्वय द्रव्य है। अन्वय का विशेषण गुण है। (प्र.सा.त. ८०)

गुण द्रव्य के विशेष हैं। (प्र.सा.त. ९५)

३. प्रश्न : गुणों का संस्थान (आकार) कैसा है ?

उत्तर : द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल आदि स्वरूप जो गुण हैं उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है। (मू. ४९ आ.)

४. प्रश्न : गुण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्यों के सद्भूत गुण दो प्रकार के होते हैं-

(१) सामान्य गुण (२) विशेष गुण।^१ (न.च. ११)

(१) सामान्य गुण (२) विशेषात्मक गुण। (प्र.सा. त. ९५)

(१) स्वभाव गुण (२) विभाव गुण। (प.प्र. टी. १/५७)

गुण तीन प्रकार के होते हैं-

(१) कुछ साधारण गुण (२) कुछ असाधारण (३) कुछ साधारण-असाधारण। (प.प्र.टी. १/

५८)

५. प्रश्न : क्या गुण एवं द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर : गुणों के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, इसलिए द्रव्य और गुणों में अभेद है। (त.सा. ३/११)

संज्ञा आदि के निमित्त से प्राप्त होने वाले भेद के कारण गुण द्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्य से भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्य के परिणाम हैं इसलिए भिन्न नहीं भी हैं। (सर्वा. ६०८)

६. प्रश्न : द्रव्य में सामान्य गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सामान्य गुण दस हैं-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) चेतनत्व (८) अचेतनत्व (९) मूर्त्तत्व (१०) अमूर्त्तत्व। (आ. प. ९)

अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्त्तृत्व, अकर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व, आदि सामान्य गुण हैं। (प्र.सा.त. ९५)

७. प्रश्न : अस्तित्व आदि गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : अस्तित्व - 'अस्ति' इसके भाव को अस्तित्व कहते हैं। (आ.प. ९४) अस्तित्व के भाव को अस्तित्व कहते हैं। अपने गुण और पर्याय में व्याप्त होने वाला सत् है। (न.च. ६०)

वस्तुत्व - सामान्य विशेषात्मक वस्तु होती है, उस वस्तु का जो भाव है वह वस्तुत्व है। (आ.प. ९५)

द्रव्यत्व - जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है; उस द्रव्य का जो भाव है वह द्रव्यत्व है। (आ.प. ९६)

८. प्रश्न : प्रमेयत्व, अगुरुलघु एवं प्रदेशत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमेयत्व - प्रमाण के द्वारा जानने योग्य जो स्व और पर स्वरूप है वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। अर्थात् जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी-न-किसी ज्ञान का विषय बनता है वह प्रमेयत्व गुण है।

अगुरुलघुत्व - जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रति-समय में परिणमन शील है तथा आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघु गुण है। अगुरुलघु का जो भाव है वह अगुरुलघुत्व है।

प्रदेशत्व - प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। (आ. प. ९८-१००)

९. प्रश्न : चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व तथा अमूर्तत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : चेतनत्व - चेतन के भाव को अर्थात् पदार्थों के अनुभव को चेतनत्व कहते हैं। चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रिया रूप ही होती है। मन, वचन, काय में अन्वित वह क्रिया नित्य होती रहती है। (आ.प. १०१) चेतना, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है, ये एकार्थ हैं क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना एकार्थ हैं। (पं.का.स. ३९)

अचेतनत्व - अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थ के अननुभवन को अचेतनत्व कहते हैं।

मूर्तत्व - मूर्त अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्तता को मूर्त कहते हैं, मूर्त के भाव को मूर्तत्व कहते हैं।

अमूर्तत्व - रूपादि से रहित अमूर्त के भाव को अमूर्तत्व कहते हैं। (आ.प. १०२-१०४)

१०. प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य में कितने सामान्य गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण पाये जाते हैं-

जीव द्रव्य में -

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७)

चेतनत्व (८) अमूर्तत्व ।

पुद्गल द्रव्य में-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) अचेतनत्व (८) मूर्तत्व ।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल में-

(१) अस्तित्व (२) वस्तुत्व (३) द्रव्यत्व (४) प्रमेयत्व (५) अगुरुलघुत्व (६) प्रदेशत्व (७) अचेतनत्व (८) अमूर्तत्व । (आ.प. १०)

११. प्रश्न : द्रव्य में विशेष गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : सर्वद्रव्यों में सोलह विशेष गुण पाये जाते हैं-

(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) सुख (४) वीर्य (५) रूप (६) रस (७) गन्ध (८) स्पर्श (९) गति हेतुत्व (१०) स्थिति हेतुत्व (११) वर्तना हेतुत्व (१२) अवगाहन हेतुत्व (१३) मूर्तत्व (१४) अमूर्तत्व (१५) चेतनत्व (१६) अचेतनत्व । (आ.प. ११) अवगाहन हेतुत्व, गति हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, वर्तना हेतुत्व, रूप-रस-गन्धादिमत्ता, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं । (प्र.सा.त. ९५)

१२. प्रश्न : प्रत्येक द्रव्य में कौन-कौन से विशेष गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर : जीव द्रव्य में छह विशेष गुण हैं- ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ।

पुद्गल द्रव्य में छह विशेष गुण हैं- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्तत्व, अचेतनत्व ।

धर्मादि चार द्रव्यों में तीन-तीन विशेष गुण हैं-

धर्म द्रव्य में - गति हेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ।

अधर्म द्रव्य में - स्थिति हेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ।

आकाश द्रव्य में - अवगाहन हेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ।

काल द्रव्य में - वर्तना हेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व । (आ.प. १२-१३)

१३. प्रश्न : जीवों में साधारण-असाधारण गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये स्वजाति की अपेक्षा साधारण और विजाति की अपेक्षा विशेष हैं । (न.च. १६) ज्ञान, सुख आदि गुण स्वजाति की अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजाति की अपेक्षा असाधारण है । (सर्व जीवों में सामान्य रूप से पाये जाने के कारण जीव द्रव्य के प्रति साधारण है और शेष द्रव्यों में न पाये जाने से उनके प्रति असाधारण है ।)

अमूर्तत्व गुण - पुद्गल के प्रति असाधारण है परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्यों के प्रति साधारण है ।

प्रदेशत्व गुण - काल द्रव्य व पुद्गल परमाणु के प्रति असाधारण है परन्तु शेष द्रव्यों के प्रति साधारण है।

इस प्रकार जीवों के गुणों का संक्षेप व्याख्यान किया। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों के गुणों का भी यथा-संभव जानना चाहिए। (प.प्र.टी. १/५८)

१४. प्रश्न : पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, 'पर्येति' अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है। यह पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति है।

सत् को आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त यही संग्रह प्रस्तार क्षणिक रूप से विवक्षित व शब्द भेद से भेद को प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है। (ध. ९/१७०)

द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। (द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं।) (सर्वा. ६००)

एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं जैसे- एक आत्मा में हर्ष और विषाद। (प.मु. ४/८)

द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से होती है अर्थात् अनित्य रूप पर्याय समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती है वे पर्यायें कही जाती हैं। (प.प्र.टी. १/५७)

जो व्यतिरेकी हैं वे पर्यायें हैं। (प.प्र.टी. १/५७)

१५. प्रश्न : पर्यायों का आकार कैसा है ?

उत्तर : दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायों का संस्थान है। (मू.आ. ५४९)

१६. प्रश्न : पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : पर्यायें दो प्रकार की होती हैं-

(१) गुणात्मक पर्याय (२) द्रव्यात्मक पर्याय। (प्र.सा.त. ९३)

(१) द्रव्य पर्याय (२) गुण पर्याय। (पं.का.ता. १६)

(१) अर्थ पर्याय (२) व्यञ्जन पर्याय। (आ.प. १५)

(१) स्वभाव पर्याय (२) विभाव पर्याय। (नि.सा. १५)

पर्याय चार प्रकार की है-

(१) स्वभाव द्रव्य पर्याय (२) विभाव द्रव्य पर्याय (३) स्वभाव गुण पर्याय (४) विभाव गुण पर्याय। (न.च. १९)

१७. प्रश्न : क्या द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर : पर्याय के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, इसलिए महर्षि दोनों में अभिन्नता कहते हैं। (त.सा. ३/१२)

१८. प्रश्न : गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुण पर्याय है। (प्र.सा.त. ९३)

जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वय रूप एकत्व का ज्ञान होता है, उन्हें गुण पर्यायें कहते हैं। (पं.का.ता. १६)

गुण-पर्यायें एक पर्याय हैं, क्योंकि गुणपर्यायों को एक द्रव्यत्व है। तथा वह द्रव्यत्व आम्रफल की भाँति है। (प्र.सा.त. १०४)

गुण-पर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आम्र में हरे एवं पीले रंग की भाँति। (पं.का.ता. १६)

१९. प्रश्न : द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्य पर्याय है।

जैसे अनेक वस्तुओं से बनी हुई को एक यान या वाहन कहना। (पं.का.ता. १६)

२०. प्रश्न : द्रव्य पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : द्रव्य पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) समानजातीय द्रव्य पर्याय (२) असमान जातीय द्रव्य पर्याय।

समानजातीय द्रव्य पर्याय - समानजातीय वह है- जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि। (प्र.सा.त. ९३)

दो, तीन वा चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कन्ध बनते हैं, तो यह एक अचेतन की दूसरे अचेतन द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली समानजातीय द्रव्य पर्याय है। (पं.का.ता. १६)

असमानजातीय द्रव्य पर्याय - जीव पुद्गलात्मक देव-मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। (प्र.सा.त. ९३)

भवान्तर को प्राप्त हुए जीव के नवीन शरीर नोकर्म रूप पुद्गल के साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीव की अचेतन पुद्गल द्रव्य के साथ मेल से होने के कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। (पं.का.ता. १६)

२१. प्रश्न : गुण पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : गुण-पर्यायें दो प्रकार की होती हैं -

(१) स्वभाव गुण पर्याय (२) विभाव गुण पर्याय।

स्वभाव गुण पर्याय - समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघु गुण द्वारा प्रति समय प्रगट होनेवाली षट् स्थान पतित हानि-वृद्धि रूप अनेकत्व की अनुभूति है वह स्वभाव गुण पर्याय है।

विभावगुण पर्याय - रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने में आने वाले स्वभाव विशेष रूप अनेकत्व की आपत्ति (आपड़ना अथवा होना) विभाव-गुण पर्याय है। (प्र.सा.त. ९३)

२२. प्रश्न : अर्थ पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्य को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ पर्याय' हैं। (प्र.सा.त. ८७)

षट् हानि-वृद्धि रूप सूक्ष्म, परमागम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें हैं। (नि.सा. १६८) अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अवाय विषयक है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती है। (वसु.श्रा. २५)

भूत और भविष्यत् के उल्लेख रहित केवल वर्तमानकालीन वस्तु स्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। (न्याय दी. ३/७७)

अगुरुलघु गुण की षट् वृद्धि और हानि रूप तथा प्रतिक्षण बदलती हैं वे अर्थ पर्याय होती हैं। (प्र.सा.ता. ८०)

२३. प्रश्न : अर्थ पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अर्थ पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) स्वभाव अर्थ पर्याय (२) विभाव अर्थ पर्याय।

स्वभाव अर्थ पर्याय - अगुरुलघु गुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थ पर्याय है। (आ.प. १६-१७)

अगुरुलघु गुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, उस अगुरुलघु गुण में प्रति समय पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। अगुरुलघु गुण की पर्यायों को (शुद्ध द्रव्यों की) स्वभाव पर्यायें जानना चाहिए। (न.च. २१)

विभावार्थ पर्याय - कषायों की षट् स्थानगत हानि-वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ-अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध (विभाव) अर्थ पर्यायें जानना चाहिए तथा द्वि-अणुक आदिक स्कन्धों में वर्णादि में अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं। (पं.का. टी. १६)

२४. प्रश्न : स्वभाव अर्थ पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : स्वभाव अर्थ पर्यायें बारह प्रकार की होती हैं- छह वृद्धि रूप तथा छह हानि रूप।

छह वृद्धि - अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि।

छह हानि - अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि। (आ.प. १७)

२५. प्रश्न : विभाव अर्थ पर्यायें कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : विभाव अर्थ पर्यायें छह प्रकार की होती हैं-

(१) मिथ्यात्व (२) कषाय (३) राग (४) द्वेष (५) पुण्य (६) पाप।

ये छह (जीव की) अध्यवसाय विभाव अर्थ पर्यायें हैं। (आ. प. १८)

२६. प्रश्न : किन-किन द्रव्यों में कौन-कौन सी पर्यायें होती हैं ?

उत्तर : सर्व द्रव्यों में स्वभाव पर्याय होती है, किन्तु जीव और पुद्गलों में विभाव पर्यायें भी होती हैं।

द्रव्य और गुणों में स्वभाव पर्यायें भी होती हैं और विभाव पर्यायें भी होती हैं। जीव में जीवत्व रूप स्वभाव पर्यायें होती हैं और कर्म कृत विभाव पर्यायें होती हैं। पुद्गल में विभाव पर्यायें कालप्रेरित होती हैं जो स्निग्ध व रूक्ष गुण के कारण बन्ध रूप होती हैं। (न. च. १८-१९)

२७. प्रश्न : व्यञ्जन पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : वज्रशिला, स्तम्भादि में व्यञ्जन संज्ञिक उत्पन्न हुई पर्याय का अवस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्व भी व्यञ्जन पर्याय है। (ध. ४/३३७)

(जिससे व्यक्त हो, प्रकट हो वह व्यञ्जन पर्याय है। किस कारण ? पटादि की भाँति चक्षुगोचर होने से अथवा सादि-सान्त मूर्त विजातीय विभाव-स्वभाव वाली होने से दिखकर नष्ट होने वाले स्वरूप वाली होने से) नर-नारकादि व्यञ्जन पर्याय पाँच प्रकार की, संसार प्रपंच वाले जीवों के होती है। पुद्गलों की स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें होती हैं। (नि.सा.त. १६८)

व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है। (वसु. श्रा. २५)

व्यक्ति का नाम व्यंजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारित है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टी आदि की पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं। (न्या.दी. ३/७७)

शरीर के आकार रूप से जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान है वह व्यञ्जन पर्याय कहलाती है। (प्र.सा.ता.टी. ८०)

२८. प्रश्न : व्यञ्जन पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : व्यंजन पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) विभाव व्यंजन पर्याय (२) स्वभाव व्यञ्जन पर्याय।

विभाव व्यंजन पर्याय - नर, नारकादि जीव की विभाव व्यंजन पर्यायें हैं एवं द्वि अणुकादि स्कन्धों में ही चिरकाल रहने वाली पुद्गल की विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

स्वभाव व्यंजन पर्याय - जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव व्यंजन पर्याय है। (आ. प. १९-२३)

२९. प्रश्न : विभाव व्यंजन पर्याय कितने प्रकार की है ?

उत्तर : विभाव व्यंजन पर्याय दो प्रकार की है-

(१) विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय (२) विभाव गुण व्यंजन पर्याय।

विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय - उपर्युक्त विभाव व्यंजन पर्याय ही विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है।

विभाव गुण व्यंजन पर्याय - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। पुद्गल की रस से रसान्तर, गन्ध से अन्य गन्ध अवस्था विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। (आ.प. १९-२४)

३०. प्रश्न : स्वभाव व्यंजन पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्वभाव व्यंजन पर्याय दो प्रकार की है-

(१) स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय (२) स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय।

स्वभावरव्य व्यंजन पर्याय - जिस शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है उस अन्तिम शरीर से कुछ कम सिद्ध जीव का आकार होता है वह स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। पुद्गल की एक शुद्ध परमाणु रूप अवस्था स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। (आ.प. २१, २५)

स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय - जीव के अनन्त चतुष्टय, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है। शुद्ध परमाणु में एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और परस्पर में अविरुद्ध दो स्पर्श यथा स्निग्ध रूक्ष में से एक और शीत-उष्ण में से एक ये पुद्गल की स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं। (आ. प. २२, २६)

३१. प्रश्न : स्वभाव पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मोपाधि रहित पर्यायों वे स्वभाव पर्याय कही गयी हैं, अन्य की अपेक्षा से रहित जो (परमाणु का) परिणाम वह (पुद्गल की) स्वभाव पर्याय है। (नि.सा. १५, २८)

३२. प्रश्न : स्वभाव पर्याय कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : स्वभाव पर्याय दो प्रकार की होती है-

(१) स्वभाव द्रव्य पर्याय (२) स्वभाव गुण पर्याय।

सब द्रव्यों की जो अपने-अपने प्रदेशों की स्वाभाविक स्थिति है वही द्रव्य की स्वभाव पर्याय जानो। कर्मों से निर्मुक्त सिद्ध जीवों में जो देहाकार रूप से प्रदेशों की निश्चल स्थिति है वह जीव की शुद्ध या स्वभाव पर्याय है। निश्चय से जो अनादि-निधन कारण रूप तथा कार्य रूप परमाणु है वही पुद्गल द्रव्य की स्वभाव द्रव्य पर्याय है। (न.च. वृ. २०-२९)

३३. प्रश्न : स्वभाव गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यों के अगुरुलघु गुण के अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों की समय-समय पर उत्पन्न होने वाली पर्यायें हैं, वे द्रव्यों की स्वभाव गुणपर्याय कही गयी हैं, ऐसा तुम जानो। द्रव्य व भावकर्म से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय जानो। एक अणु रूप पुद्गल द्रव्य में

स्थित जो रूप, रस, गन्ध व वर्ण है, वह पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण पर्यायें जानो। (न.च. २१-३०)

३४. प्रश्न : 'गुणा एव पर्यायाः' ऐसा कहा है अतः 'गुणपर्ययवत्' विशेषण निरर्थक है ?

उत्तर : 'गुणपर्ययवत्' यह मतान्तरों की निवृत्ति के लिए है क्योंकि अन्य मतों में द्रव्य से भिन्न गुणों की परिकल्पना की गई है परन्तु द्रव्य से भिन्न गुण कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि द्रव्य से भिन्न गुण उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः द्रव्य का परिणमन, परिवर्तन पर्याय है और उसका भेद ही गुण है, द्रव्य से भिन्नजातीय गुण नहीं है अतः मतान्तर की निवृत्ति के लिए 'गुणपर्ययवत्' विशेषण निरर्थक नहीं है। (रा.वा. ४)

३५. प्रश्न : सूत्र उनतीस 'सत्.....' में द्रव्य का लक्षण बता दिया है अतः पुनः द्रव्य का लक्षण क्यों लिखा ?

उत्तर : सूत्र उनतीस में सम्पूर्ण द्रव्यों का सामान्य लक्षण बताया है उस सत् रूप महाद्रव्य की अंश रूप पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, वे भी व्यवहार नय से द्रव्यत्वपने को स्वीकार करते हैं, उस द्रव्य का असाधारण लक्षण बताने के लिए पुनः यह 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' सूत्र लिखा है। (श्लो.६/३९५)

३६. प्रश्न : सूत्र में 'गुण' शब्द का प्रयोग क्यों किया है?

उत्तर : सूत्र में एक गुण, दस गुण या अनन्त गुण रूप जो रूपादिक के परिणाम रूप अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं उनको बतलाने के लिए गुण शब्द का प्रयोग किया है अतः वह गुण का विशेष हो अर्थात् गुणांश को बतलाने के लिए गुण शब्द है।

३७. प्रश्न : 'गुण' शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर : जिस प्रकार दश में और दशगुण में दशपना समान ही है तथा अधिक में भी गुण शब्द पाया जाता है वैसे ही इस विषय में भी जान लेना चाहिए। गणित सम्बन्धी 'दश' शब्द का प्रयोग नाना दश वस्तुओं के लिए भी होता है तथा किसी एक वस्तु में भी ताकत आदि की अपेक्षा दश गुणापन पाया जाता है। अतः दश शब्द का प्रयोग कहीं तो अन्वयी (ध्रुव) ज्ञानादिक गुण के लिए उसका प्रयोग होता है तो कहीं गुण शब्द शब्द के विकार पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद के लिए या गुणांश के अर्थ में होता है तो कहीं गुण शब्द गौण अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सामान्य विशेष रूप अनेक धर्मात्मक वस्तु के नित्य आदिक धर्मों के विषय में गुण मुख्य भाव से या अर्पितानर्पित रूप से चिंतन करना चाहिए। सूत्र में गुण शब्द गौण या अनर्पित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (स.सूत्र ३/१५)

काल द्रव्य का कथन करते हैं-

कालश्च ॥३९॥

कालः च।

अर्थ - काल भी द्रव्य है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उक्त द्रव्यों के लक्षण निर्देश से उनका विषय ही द्रव्य का ज्ञान करा देता है परन्तु जिस द्रव्य का कथन नहीं किया है, उसकी सूचना के लिए यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ३९)

२. प्रश्न : काल को द्रव्य क्यों कहा गया है ?

उत्तर : काल में द्रव्य का लक्षण पाया जाता है। जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है अथवा जो गुण और पर्याय वाला है वह द्रव्य है, ये दोनों ही लक्षण काल में पाये जाते हैं इसलिए काल में जब द्रव्य के दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो वह आकाशादि के समान स्वतंत्र द्रव्य है यह सिद्ध होता है। धर्मास्तिकायादि के समान इसके अस्तित्व के कारण का व्याख्यान किया ही है कि 'काल का लक्षण वर्तना है।' (सर्वा. ६०२) जैसे - आकाशादि द्रव्य के लक्षणों से युक्त होने से द्रव्य है उसी प्रकार काल में भी द्रव्य का लक्षण घटित होता है अतः काल के भी द्रव्यत्व सिद्ध होता है। (रा.वा. २)

३. प्रश्न : काल में उत्पाद व्यय ध्रौव्य किस अपेक्षा पाये जाते हैं ?

उत्तर : काल में ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय ही है क्योंकि वह स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहता है। काल का उत्पाद-व्यय स्व-पर प्रत्यय से होता है। अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धि की अपेक्षा उत्पाद-व्यय स्वप्रत्यय से होता है तथा पर द्रव्यों में वर्तना का कारण होने से काल में उत्पाद और व्यय पर प्रत्यय भी होता है। (रा.वा. २)

काल में ध्रुवता स्व निमित्तक है, क्योंकि उसमें अपने स्वभाव की व्यवस्था होती है। व्यय और उत्पाद पर निमित्तक हैं, और अगुरुलघु गुणों की हानि और वृद्धि की अपेक्षा स्वनिमित्तक भी है। (सर्वा. ६०२)

४. प्रश्न : काल में गुण और पर्यायों किस प्रकार पायी जाती हैं ?

उत्तर : काल द्रव्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं-

(१) साधारण गुण (२) असाधारण गुण।

वर्तनाहेतुत्व काल का असाधारण गुण है क्योंकि काल को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है।

अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण हैं क्योंकि ये गुण पुद्गलादि अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। (रा.वा. २)

५. प्रश्न : काल द्रव्य को अलग से क्यों कहा ? धर्मादि द्रव्यों के साथ पहले सूत्र में ही क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर (पहले सूत्र में) यदि इसका कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त होता। परन्तु काल द्रव्य कायवान् नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और उपचार दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना का अभाव है। धर्मादि द्रव्यों का तो 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्यादिक सूत्रों द्वारा मुख्य रूप से प्रदेशप्रचय कहा है। उसी प्रकार एक प्रदेश वाले अणु का भी पूर्वोत्तर भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपचार कल्पना से प्रदेशप्रचय कहा है, परन्तु काल के दोनों प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना नहीं

बनती, इसलिए वह अकाय है। दूसरी बात- यदि प्रथम सूत्र में काल का पाठ रखते हैं तो 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्र में धर्म से लेकर आकाश तक के द्रव्यों को निष्क्रिय कहने पर जैसे जीव और पुद्गलों को सक्रियत्व प्राप्त होता है वैसे ही काल द्रव्य को सक्रियत्व प्राप्त होता है। (सर्वा. ६०२)

६. प्रश्न : काल में सक्रियत्व न हो इसलिए सूत्र में आकाश के पहले काल को रख देते ?

उत्तर : यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'आकाश तक एक द्रव्य है' इस सूत्रवचन के अनुसार यदि काल को आकाश के पहले रखते हैं तो उसे एक द्रव्यत्व (काल द्रव्य एक होगा) प्राप्त होता है। ये सब दोष प्राप्त न हों इसलिए काल का अलग से कथन किया है। (सर्वा. ६०२)

७. प्रश्न : काल द्रव्य का कथन पृथक् क्यों किया है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं और काल अस्तिकाय रूप नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेश रूप ही है। उसमें निश्चय प्रदेशों के अभाव को बताने के लिए उसको (काल द्रव्य को) पृथक् रूप से कहा है। (मू. २३३ आ.)

८. प्रश्न : अस्तिकाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : चूंकि विद्यमान है इसलिए जिनेश्वर ने इनको अस्ति कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं इसलिए इनको काय कहा है। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते हैं। (द्र.सं. २४)

जिन्हें विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है, वे अस्तित्वकाय हैं, कि जिनसे तीन लोक निष्पन्न है। (पं.का. ता. ५)

९. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि काल द्रव्य एक प्रदेशी है ?

उत्तर : जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव, आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार काल द्रव्य भी समयरूप काल पर्याय के उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मंदगति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के एक आकाश के प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है। (बृ.द्र.सं.टी. २५)

व्यवहार काल का प्रमाण कहते हैं-

सोऽनन्तसमयः ॥४० ॥

सः अनन्त समयः ।

(सः) वह काल (अनन्तसमयः) अनन्त समय वाला है।

अर्थ - वह (काल द्रव्य) अनन्त समय वाला है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : वर्तना लक्षण वाले मुख्य काल का प्रमाण कहा। परन्तु परिणाम आदि के द्वारा जानने योग्य व्यवहार काल का क्या प्रमाण है ? इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ६०३) द्रव्यत्व होने पर यह काल क्या आकाश के समान एक अखण्ड है अथवा भिन्न-भिन्न है ऐसी आशंका होने पर यह सूत्र कहा गया है। (रा.वा.उ. ४०)

मुख्य काल का निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। (सर्वा. ६०४)

२. प्रश्न : यह काल कितने समय वाला है ?

उत्तर : यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय है ऐसा मानकर काल को अनन्त समय वाला कहा है, तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायों वर्तना गुण के निमित्त से होती हैं। इसलिए एक कालाणु को भी उपचार से अनन्त कहा है। (सर्वा. ६०४)

३. प्रश्न : सूत्र में 'अनन्त' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : मुख्य परमार्थ कालाणु धर्मास्तिकाय के प्रदेश के समान असंख्यात है, ऐसा कहा है। परन्तु यहाँ अनन्त समय का निर्देश व्यवहार काल के प्रमाण की अवधारणा के लिए है। वर्तमान काल एक समय का होने पर भी अतीत, अनागत समय अन्त से अतीत है। अतः सूत्र में 'अनन्ताः' इस संख्या का निर्देश दिया गया है।

अथवा - अनन्त पर्यायों की वर्तना में कारण होने से मुख्य काल को अनन्त कहा है।

अथवा - मुख्य काल के प्रमाण की अवधारणा के लिए अनन्त कहा है, क्योंकि अनन्त पर्यायों की वर्तना का हेतु होने से एक भी कालाणु उपचार से अनन्त कहा जाता है। (रा.वा. १-२)

गुण का लक्षण कहते हैं-

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

द्रव्य-आश्रयाः- नि-र्गुणा-गुणाः ।

(द्रव्याश्रयाः) जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और (निर्गुणाः) जो स्वयं निर्गुण हैं उन्हें (गुणाः) गुण कहते हैं।

अर्थ - जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं निर्गुण हैं उन्हें गुण कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गुण और पर्याय से युक्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं तो गुणों का लक्षण क्या है, ऐसी पृच्छा करने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। (रा.वा.उ. ४१)

नोट : गुण का लक्षण देखें- (५/३८)

परिणाम का लक्षण कहते हैं-

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

(तद्भावः) द्रव्यों के उस भाव को (परिणामः) परिणाम कहते हैं।

अर्थ - द्रव्य का निज भाव ही तद्भाव है, द्रव्यों के उस भाव को परिणाम कहते हैं।

१. प्रश्न : क्या सभी द्रव्यों में अनादि एवं सादि परिणाम पाये जाते हैं ?

उत्तर : दोनों नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि होती है। पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सर्व धर्मादि द्रव्यों में परिणाम सादि हैं और द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सभी द्रव्यों के परिणाम अनादि हैं। विशेषता यह है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलों का परिणाम कथंचित् प्रत्यक्षगम्य भी होता है। (रा.वा. ४)

नोट : सादि एवं अनादि परिणाम का लक्षण देखें- (५/२२)

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में पंचम अध्याय पूर्ण हुआ।

